।।श्रीहरिः।।

विदेशयात्रा–शास्त्रीयपक्ष

लेखक

अनन्त श्री स्वामी करपात्रीजी महाराज

विदेशयात्रा : शास्त्रीय पक्ष

प्रस्तुत निबंध का उद्देश्य

इधर कुछ दिनों से यह विवाद चल रहा है कि विदेशयात्रा (प्रत्यन्तयात्रा) शास्त्रसम्मत है या नहीं ? आजकल कुछ शास्त्रविश्वासी आचार्य, विद्वान्, महात्मा आदि भी स्वयं विदेशयात्रा करते हैं तथा इसे शास्त्रसम्मत सिद्ध करने का प्रयास कर रहे हैं। मैं यह समझता हूं कि ये लोग विश्व का कल्याण एवं भारतीय संस्कृति की सर्वोच्च उदात्तता को सुदूर देशों तक पहुँचाने की दृष्टि से ही ऐसा प्रयास करते हैं, परन्तु यह भी उनकी व्यक्तिगत वासना ही कही जा सकती है । किसी शास्त्रीय सिद्धांत को भावना के प्रवाह में विकृत नहीं किया जा सकता । कभी-कभी किसी महान् व्यक्ति में भी किसी अंश में कोई कमजोरी आ जाती है, पर इसका मतलब यह नहीं कि वह कमजोरी शास्त्रीय सिद्धांत के रूप में सिद्ध कर दी जाये । सनातन शास्त्रों की दृष्टि में जो **'विदेशयात्रा का वर्जन'** परम्परा से माना जाता है, इसके पीछे भी भारतीय संस्कृति की रक्षा के निमित्त कुछ रहस्यपूर्ण उदात्त भावनाएं ही निहित हैं।

अतः आज के इस भौतिक युग में कम से कम बीजरक्षा के लिये भी शास्त्रीय सिद्धान्तों की भले ही वे जनसाधारण की इच्छाओं के विपरीत ही प्रतीत क्यों न हों, अक्षुण्ण रखना हमारा परम् कर्तव्य है । इसी दृष्टि से प्रस्तुत निबन्ध में प्रत्यन्त (विलायत) यात्रा के शास्त्रीय पक्ष पर विचार किया जा रहा है ।

हिन्दु भी पतित होता ही है

'विदेशयात्रा' के समर्थन के प्रसङ्ग में- **''न हिन्दुः पतितो भवेत्''**- हिन्दु पतित होता ही नहीं, अतः उसे विदेश जाने में क्या आपत्ति है- यह बात उठायी गयी है, पर इसमें कोई तथ्य नहीं दीखता, क्योंकि वेदों, उपनिषदों एवं धर्मशास्त्रों में ऐसे अनेक कर्मों का वर्णन है, जिनसे हिन्दु पतित होता है । सूर्योपनिषद् के **''पतितसम्भाषणात् पूतो भवति''** इस वचन में स्पष्ट ही 'पतित' का उल्लेख है ।

किसी को हिन्दुजाति या हिन्दुधर्म से बहिष्कृत न किया जाय, यह तो उचित है, परन्तु हिन्दु कुछ भी करे, पतित होता ही नहीं, यह कैसे माना जाय ? यदि हिन्दु पतित होते ही नहीं, तो निम्न वचनों की क्या सङ्गति होगी ?

सद्यः पतति मांसेन लाक्षया लवणेन च ।

त्र्यहेन शूद्रो भवति ब्राह्मणः क्षीरविक्रयात् ।।मनु।।

मांस, लाक्षा तथा लवणविक्रय से ब्राह्मण सद्यः पतित होता है । क्षीरविक्रय से ब्राह्मण तीन दिनों में शूद्र हो जाता है ।

ब्राह्मणत्वं शुभं प्राप्य दुर्लभं योऽवमन्यते ।

अभोज्यन्नानि चाश्नाति स द्विजत्वात् पतेत वै ।

अव्रती वृषलीभर्त्ता कुण्डाशी सोमविक्रयी ।

विहीनसेवी विप्रो हि पतति ब्रह्मयोनितः ।।

गुरूतल्पी गुरुद्रोही गुरुकुत्सारतिश्च यः ।

ब्रह्मविच्चापि पतति ब्राह्मणो ब्रह्मयोनितः । (म. भा. आयुध प. १४३)

जो दुर्लभ ब्राह्मणत्व को पाकर उसका अपमान करता है, अभोज्यान्न खाता है, वह द्विजत्व से पतित हो जाता है, अव्रती, वृषलीभर्त्ता, कुण्डाशी, सोमविक्रयी तथा विहीनसेवी ब्राह्मण भी पतित होता है । गुरुद्रोही, गुरुस्त्रीगामी या गुरुनिन्दारत ब्रह्मवित् भी पतित होता है ।

ये स्तेनपतितक्लीवा ये च नास्तिकवृत्तयः ।

तान् हव्यकव्ययोर्विप्राननहार्न् मनुरब्रवीत् ।। (मनु. ३/१५०)

चोर, पतित, नपुंसक एवं नास्तिक ब्राह्मण देव-पितृकार्य में मनु के अनुसार सर्वथा वर्जित हैं ।

ब्रह्महत्या सुरापानं स्तेयं गुर्वङ्गनागमः ।

महान्ति पातकान्याहुः संसर्गश्चापि तैः सह ।। (मनु. ११/५४)

ब्रह्महत्या, सुरापान, स्वर्णस्तेय, गुरुतल्पगमन - इन महान् पातकों को करने वाले और उनके साथ सम्पर्क रखने वाले पतित होते हैं ।

अकुर्वन् विहितं कर्म निन्दितं च समाचरन् ।

प्रसक्तश्चेन्द्रियस्यार्थे नरः पतनमृच्छति ।।

विहित कर्म न करने से, निन्दित कर्म करने से तथा इन्द्रियों के विषय में अति आसक्त होने से मनुष्य का पतन होता है ।

जो लोग किन्हीं पारम्परिक आप्त ग्रन्थों को तथा शास्त्रों को प्रमाण मानते ही नहीं हैं, वे लोग इन वचनों के सम्बन्ध में कुछ भी कह सकते हैं, पर शास्त्र तथा शास्त्रोक्त मर्यादा में पूर्ण आस्था प्रकट करने वाले लोग इन वचनों की उपेक्षा कैसे कर सकते हैं ?

विदेशयात्रा तथा अन्य आचार्यों की सम्मति

श्रीरामानुजाचार्य के सम्बन्ध में यह वाक्य प्रसिद्ध है-

"सर्वदेशदिशाकालेष्वव्याहतपराक्रमाः,

रामानुजाचार्यदिव्याज्ञा वर्धतामभिवर्धताम् ।"

इसका आशय है कि सब देशों एवं दिशाओं में तथा समस्त कालों में जिनकी अबाधगति है ऐसे भाष्यकार भगवान् रामानुजाचार्य की दिव्याज्ञा निरन्तर वृद्धि को प्राप्त हो । अब इसके आधार पर यह सिद्ध करना उचित नहीं प्रतीत होता कि भगवान् रामानुजाचार्य को विदेशयात्रा सम्मत थी ।

इसी प्रकार-

"ये बाहुमूलपरिचिह्नितशङ्खचक्राः ।

ये वै ललाटपटले लसितोर्ध्वपुण्ड्राः ।

ये कण्ठलग्नतुलसीनलिनाक्षमालाः ।

ते वैष्णवा भुवनमाशु पवित्रयन्ति ।।"

अर्थात् शंखचक्र-चिह्न वाले, उर्ध्वपुण्ड्र तथा तुलसी करलाक्षमाला आदि से शोभित वैष्णव भुवनतल को पवित्र करते हैं ।

इस वचन में भी वैष्णवों की लोकोत्तर महिमा का वर्णन है, इसका यह तात्पर्य कथमपि नहीं है कि वे स्वयं घर-घर विदेशों तक घुमते थे, जिससे विदेशयात्रा सिद्ध हो सके ।

सप्तद्वीप, नवखण्डों तक हमारा प्रसार है । इसे हम भी स्वीकार करते हैं, हम तो इतने से ही सन्तोष नही करते हैं । वैदिक धर्म एवं उपासनाओं पर हम लोगों का इतना विश्वास है कि उन्हें यथावत् सम्पन्न पर अनन्त ब्रह्मम‍ाण्डाधिपति भगवान को भी अपने वश में करने के लिये हम उद्यत रहते हैं, पर उसके लिए वैदिक मर्यादा का पालन करना आवश्यक है न कि उसका उल्लंघन ।

जगद्गुरु शङ्कराचार्य श्रीकृष्णबोधाश्रमजी महाराज, द्वारकापीठाधीश्वर श्री अभिनवसच्चिदानन्दतीर्थजी महाराज, अनन्तश्रीअंण्णंगराचार्यजी आदि धर्माचार्य कथमपि 'विदेशयात्रा' का समर्थन नहीं करते हैं । अपने पक्ष में उनकी चर्चा करना उपयुक्त नहीं है ।

विदेशयात्रा से सम्बद्ध अन्य प्रमाणों की समीक्षा

'विदेशयात्रा' के समर्थन में प्रमाण प्रस्तुत करते हुए कहा जाता है कि कुरुक्षेत्र प्रजापति की वेदि है । यह वेदि ही पृथ्वी का मध्यवर्ती उत्कृष्ट स्थान है -

"एतावती वाव प्रजापतेवेदिर्यावत् कुरुक्षेत्रम् ।" (ताण्ड्यब्रा.२५/२३)

"इयं वेदिः परो अन्तः पृथिव्याः" (ऋक्.१६४/३५)

भारत से अन्य देशों में गये क्षत्रिय यूनानी-मुण्डित शिर, शक, लम्बे केशधारी और पह्लव मूंछ वाले बना दिये गये । भारतसम्राट् ययाति ने अपने पुत्र पुरु को जम्बुद्वीप का राज्य दिया और यदु, तुर्वसु, द्रुह्य एवं अनु- इन चार पुत्रों को अन्य देशों का राज्य सौंप दिया । उन प्रवासी राजाओं ने आक्रमण कर राजा वाहुक को परास्त किया था । वाहुक के पुत्र सगर ने प्रतिशोध की भावना से कालान्तर में उन्हें भी पराजित किया, यद्यपि वे लोग पराजित होकर वसिष्ठ की शरण गये, तब भी उन्हें विकृत करके ही छोड़ा । मनु, सुरथ, महाराज अम्बरीष, कार्तवीर्यार्जुन और मान्धाता आदि सप्त समुद्र पर्यन्त समस्त भूमण्डल के शासक थे ।

"यवनान् मुण्डशिरसः शकान् प्रलम्बकेशान् ।

पह्लवान् श्मश्रुधरान् क्षत्रियांश्चकार ।।"(विष्णु पु.अंश ३ अ. ४/४७)

शास्ति सप्ताणवां महीम् (मनु.,श्रीभागवते ३/२१/२५)

सुरथो नाम राजाभूत् समस्ते क्षितिमण्डले । (दुर्गासप्तक्षती अ. १)

अन्बरीषमहाराजः सप्तद्वीपवर्ती महीम् । (श्रीभा. ६४)

सप्तद्वीपपतिः सम्यक् पितृवत्पालयते प्रजां पुरुः । (श्रीभा. ६/१८/४५)

अर्जुनःकृतवीर्य्यस्य सप्तदीपेश्वरोऽभवत् । (श्रीभा. ६/२३/२४)

मान्धाता चक्रवर्त्यवनीं सप्तद्वीपमतीमेकः शशास । आदि । (श्रीभा. ६/६/३४)

पर इन वचनों से इतना ही सिद्ध होता है कि भारतीय राजा अखण्ड भूमण्डल के शासक थे । वे सब म्लेच्छ देश में निवास करते थे या वहाँ वर्णाश्रमधर्म का अनुष्ठान करते थे या म्लेच्छ देश को म्लेच्छ देश ही नहीं मानते थे- यह सब उक्त वचनों से सिद्ध नहीं होता ।

भारत में रहकर ही समस्त भूमण्डल पर शासन किया जा सकता है । कभी जाना पड़ता था तो भी वे प्रायश्चित्त करते थे यह श्रुतार्थापत्ति से जानना चाहिए । प्रायश्चित्त करने पर भी अग्राह्यता तो कलिवर्ज्य के अनुसार कलियुग में ही है, अन्य युगों में नहीं । वर्णाश्रमाधिष्ठित भारत से भिन्न देश म्लेच्छ देश है, द्विजातियों के लिये अनाश्रयणीय है- यह मन्वादिवचनों से सिद्ध ही है । निम्नोक्त कथन भी उचित नहीं प्रतीत होता । मनु स्वयं लिखते हैं कि मैंने देशधर्म, कुलधर्म, जातिधर्म, पाखण्डियों के धर्म और अनेक गणों के धर्मों का इस शास्त्र में वर्णन किया है । पर क्या इससे यह सिद्ध होता है कि मनु सब जगह अमर्यादित रूप में घुमते रहे -

''देशधर्मान् जातिधर्मान्... '' (मनु प्र.अ.)

''धर्मज्ञ ब्राह्मण द्विपान्तरप्रवासियों को तत्तद्देशकालानुकूल सदाचार सिखाते हैं''

''एतद्देशप्रसूतस्य सकाशादग्रजन्मनः ।

स्वं स्वं चरित्रं शिक्षरेन् पृथिव्यां सर्वमानवाः ।।'' (मनु. २/२०)

क्योंकि उक्त मनुवचन का यह कदापि अर्थ नहीं है कि मनुवचन के ही विपरीत होकर ब्राह्मण लोग म्लेच्छ देशों में जाकर वहाँ उन लोगों को- धर्नोपदेश करते थे, किन्तु इस मनुवचन का यही अर्थ है कि भारत के अग्रजन्मा लोगों के पास आकर पृथ्वी के सभी लोग अपने-अपने अनुरूप चारित्रिक शिक्षा ग्रहण करते थे । इसीलिए

मनु ने भी यह ही कहा है कि यद्यपि पौण्ड्र, चौल लोग क्षत्रिय ही थे तथापि विदेशों में उन्हें ब्राह्मणों का दर्शन न होने से वे म्लेच्छ हो गये ।

''शनकैस्तु क्रियालोपादिमाः क्षत्रियजातयः ।

वृषलत्वं गता लोकं ब्राह्मणादर्शनेन च ।।'' (मनु. १०/३४)

पौण्ड्रकाश्चौलद्रविड़ा काम्बोजा यवनाः शकाः ।

पारदाः पह्लवाश्वीनाः किराता दरदाः खशाः ।। (मनु १०/४४)

इसी प्रकार- 'आदि सृष्टि से लेकर बहुत लम्बे काल तक ये प्रवासी भारतीय सनातनधर्म का पालन करते रहे । भारत के ब्राह्मण शिक्षा देने के लिये, क्षत्रिय लोग दिग्विजय और शासन के प्रसङ्ग में तथा वैश्य वाणिज्य व्यापार के उद्देश्य से इन प्रवासियों से सम्पृक्त रहे अर्थात् इन देशों में जाते रहे । वे प्रवासी लोग भी कर प्रदान करने के लिए यथासमय खासकर भारतीय सम्राटों के राज्याभिषेक के समय यहाँ आते-जाते रहे । भारतनिवासियों और प्रवासियों का लाखों वर्ष तक प्रगाढ़ सम्पर्क बना रहा । रोटी बेटी का सम्बन्ध उनमें होता रहा- आदि निष्कर्ष भी निष्प्राण है, क्योंकि मन्वादि के अनुसार द्विजाति लोग प्रयत्न करके वर्णाश्रमवती भारत भूमि के ब्रह्मावर्त आदि देशों में ही रहते रहे हैं । प्रसङ्गवशात् म्लेच्छ देशों में जाने पर प्रायश्चित्त करते रहे । शूद्र भी वृत्तिकर्षित होकर भी यत्र-तत्र निवास करते थे, स्वभावतः वे भी वर्णाश्रमी होने के कारण भारत में ही रहते थे ।

'एतान् द्विजातयो देशान् संश्रयेरन् प्रयत्नतः ।

शूद्रस्तु यस्मिन् कस्मिन् निवसेद् वृत्तिकर्षितः ।।' (मनु २/२४)

परस्पर हिताचरण, परस्पर पोषण तथा स्नेहभाव तो आर्य्यों का सबके साथ रहता ही है, साथ ही यह भी ज्ञातव्य है कि भारत से बहिर्देशों में भारतीय ही प्रवासी होकर रहते थे या वहाँ के भी कोई निवासी वहाँ रहते थे ? यदि वहाँ के निवासी अन्य थे ही नहीं तब वहां भारतीय प्रवासी कैसे कहे जाते थे ? अन्य देशों के निवासी तथा प्रवासी में भेद क्या हुआ ? यदि आज कल के समान ही उस समय के प्रवासी लोग तद्देश निवासियों से भिन्न अन्य थे, तो उन (तद्देश निवासी-प्रवासी) का परस्पर रोटी-बेटी आदि का सम्बन्ध था या नहीं ? यदि था, तब तो अनुलोम-प्रतिलोम साङ्कर्य होने से उनका शुद्ध हिन्दु या सनातनधर्मानुयायी बने रहना कहाँ तक सम्भव था ? यदि सभी भारतीय ही थे, तद्देश निवासी थे ही नहीं, तो आज भी तद्देश निवासी एवं भारतीय प्रवासियों का भेद क्यों मान्य है ? यदि सभी को भूतपूर्व भारतीय वर्णाश्रमी

ही माना जाय तो भी क्या उनकी शुद्धि कर पूर्ण वर्णाश्रमी बनाकर उनके साथ रोटी-बेटी का सम्बन्ध स्थापित किया जा सकेगा यदि हां, तो यह कैसे ज्ञात हो सकेगा कि कौन ब्राह्मण थे, कौन क्षत्रिय थे ? यदि कर्म के आधार पर ही यह सब समझा जायगा, तब 'जन्मना वर्णव्यवस्था' वाला सिद्धान्त कहाँ गया ?

निरर्थक युक्तियाँ और उनका निराकरण

विदेशयात्रा के समर्थन में कहा जाता है कि धर्मशिक्षक विद्वान्, चक्रवर्ती सम्राट् भारत के किसी कोने में बैठे-बैठे समस्त भूमण्डल के प्रवासियों को छूमन्तर से धर्म की शिक्षा देते रहे हों या शासन करते रहे हों ऐसी बात नहीं, ऐसी कल्पना भी हास्यास्पद होगी । अवश्य ही द्वीपान्तरों में आवागमन समुद्रयानों, वायुयानों द्वारा ही होता था, पर यह कल्पना उपयुक्त नहीं है, क्योंकि आज भी कितने ही उच्च कोटि के सिद्ध, आचार्य, विद्वान् ऐसे होते हैं जो गली-गली घूमकर उपदेश नहीं करते। अधिकारी जिज्ञासुजन उन्हें ढूँढकर उनसे ज्ञान प्राप्त करते हैं ।

सुमेधा, अगत्स्य आदि ऐसे ही प्राचीनकाल में भी थे । विभिन्न साम्प्रदायिक जगद्गुरु, लोग अभी तक भारत से बाहर न जाते हुए भी जगद्गुरु रहे हैं । सम्राट् एवं बड़े व्यापारी भी अपने अधिकारियों द्वारा ही अधिकांश कार्य अब भी करते हैं ।

अथर्ववेद संहिता के तृतीय काण्ड के १५वें सूक्त को कौशिक सूत्रानुसार वाणिज्य-लाभार्थ बतलाया गया है । इन मन्त्रों में-व्यापारी पण्य वस्तुओं को विक्रयार्थ बाजारों में ले जाये, तब हीरा, वस्त्र, सुपारी, घोड़ा, हाथी, रत्न आदि में से किसी वस्तु को अपने सामने रखकर प्रस्तुत सूक्त से अभिमन्त्रित करके उठाये, इससे व्यापार में खूब लाभ होगा- आदि अवश्य प्रतिपादित है, पर इससे विदेशयात्रा की सिद्धि नहीं होती । बाजारमण्डियाँ भारतवर्ष में भी कम नहीं है । कर्मचारियों द्वारा ही विदेशों से व्यापार आदि हो ही सकता है ।

आधिभौतिक पक्ष में व्यापारी शासन के व्यापारमंत्री से प्रार्थना करें-

ये पन्थानो वहवो देवयानाः अन्तरा द्यावा पृथिवी सञ्चरन्ति ।

तेषां जुयतां पयसा घृतेन, यथाकृत्वा धनमाहरामि ।।

जो प्रसिद्ध देव अर्थात् व्यापार करने वालों के गन्तव्य बहुत से देशों से सम्बन्धित मार्ग सौरमण्डल और पृथ्वी दोनो के मध्यवर्ती अन्तरिक्ष में संचार के लिए

निर्धारित हैं, वे विमानों से अवगाहित अन्तरिक्ष मार्ग दूध, घृत आदि से मुझे प्राप्त हों। अर्थात् मार्ग में सरकार द्वारा यातायातश्रम के निवारणार्थ खाद्यों का सुप्रबन्धन हो, जिससे मैं अपनी विक्रय वस्तुओं को बेचकर लाभ सहित मूलधन को अपने राष्ट्र में ला सकूँ । उक्त मंत्र का यह भौतिक अर्थ स्वीकार करने पर भी इससे अनिषिद्ध देश की ही व्यापारार्थ यात्रा कही जा सकती है । **"बहुदेशसम्बन्धिनः" "अपने राष्ट्र"** इत्यादि अंश तो विदेशयात्रा समर्थन की दृष्टि से कल्पना मात्र है । 'भारतवर्ष के विभिन्न प्रदेशों की यात्रा से व्यापार करके धन अपने व्यापार केन्द्र या घर लाऊँ, यही अर्थ स्वाभाविक है । सर्वत्र निषेधातिरिक्त स्थल में ही उत्सर्ग की प्रवृत्ति होती है। अतएव **'यः नरः मनुजः'** आदि सामान्य शब्दों का **'अधिकृतो नरः'** ऐसा अर्थ लिया जाता है । इस तरह के वचनों के बल पर **"नान्तमियात्"** इस प्रत्यक्ष निषेध का अतिक्रमण नहीं सिद्ध हो सकता है । शास्त्रानधिकृत लोग भी राष्ट्र में रहते ही हैं, उनके द्वारा भी विदेश-यातायात हो सकता है ।

"मारुतमनर्वाणरथं शुभं कण्वा अभिप्रगायत ।" (ऋ. १/३७/१)

'हे कण्वगोत्रीय ऋत्विजों ! जिसमें घोड़े नहीं जुते हैं, ऐसे मारुत वेग से चलने वाले शुभ रथ कल्याणकारी वायुयान की भली-भांति स्तुति करो ।'

यह यन्त्र मारुतवेग वाले किसी रथ की स्तुति करने को कहता है । इससे म्लेच्छदेशयात्रा का समर्थन नहीं किया जा सकता । यज्ञ में आने वाले इन्द्रादि देवताओं की स्तुति ऋत्विजों द्वारा श्लिष्ट ही है ।

वेदमन्त्रों से विदेशयात्रा समर्थन का निष्फल प्रयास

तुग्रो भुज्युमश्विनौ उदमेघे रयिं न कश्चिन् मभृवां अवाहाः तमूहथूर्नौभिरात्मन्वतीभिरन्तरिक्षप्रद्भिरपोदकाभिः तिस्र क्षपास्त्रिरहानि व्रजद्भिर्नासत्या भुज्युमुहथुः पतङ्गैः समुद्रस्य धन्वन्नार्द्रस्य पारे त्रिभिरथैः शतपद्भिः षडश्वैः । ४

अनारम्भणेय द्विरय यामतास्थने अग्रमणसमुद्रे यदश्विना ऊहथुर्भुज्युमस्तं शतारित्रां नावमातस्थिवांसम् । ५

प्रसिद्ध है कि तुग्र ने पहले शत्रुओं द्वारा पीड़ित होकर उनको जीतने के लिये समुद्र में अपने प्रिय पुत्र भुज्यु को उसी प्रकार जलयान द्वारा भेजा या विसर्जित किया जैसे मरता हुआ कोई व्यक्ति धन को छोड़ने के लिये विवश होता है ।

अश्विनीकुमारों ! उस समुद्र के बीच डुबते हुए भुज्यु को आपने निजी पोतों द्वारा उसके पिता के पास पहुँचा दिया । आपके जलयान समुद्र के ऊपरी भाग में अन्तरिक्षयान की भांति चलने वाले थे तथा उनमें जल कभी भी प्रविष्ट नहीं होता था।

हे नासत्यों ! तीन दिन-रात तक सेना सहित जल में डुबे हुए भुज्यु को अपने वाहनों द्वारा समुद्र के जल से तथा तटवर्ती दलदल और रेतीले क्षेत्र से बाहर किया । तुम्हारे उन जलयानों में अनेक चक्के लगे थे । और छः घोड़े या वाहक यन्त्र लगे थे ।

हे अश्विनीकुमार ! जहाँ अगाधता के कारण नीचे कुछ भी आश्रय नहीं था, ऐसे निरवलम्ब जल में, जहाँ ऊपर भी कुछ हस्तावलम्बनार्थ ग्राह्य नहीं था, इस प्रकार के महासमुद्र में आपने अपना विक्रम दिखलाया । सौ अरित्रों से सञ्चालित जलयान पर चढ़ाकर भुज्यु को उसके पिता के पास पहुँचा दिया । अन्य कोई यह दुष्कर कर्म करने में समर्थ नहीं हो सकता था ।

उक्त मन्त्र, सायणभाष्य और विदेशयात्रासमर्थन के लिये की गयी व्याख्या से इतना ही सिद्ध होता है कि भुज्यु नामक व्यक्ति ने समुद्रयात्रा की, उसकी नाव भग्न होने पर वह समुद्र में डूबने लगा, उसके पिता की प्रार्थना से अश्वनीकुमार ने उसकी रक्षा की ।

ऐसे सहस्रों वचन भी **'नान्तमियात्'** इत्यादि श्रुति से निषिद्ध तथा मन्वादि स्मृतियों से वर्जित म्लेच्छदेशों की यात्रा का **समर्थन** करने में असमर्थ है, क्योंकि व्यवहार में विधि या संविधान का ही आदर होता है । इतिहास का नहीं । कारण, इतिहास दुर्भाग्यपूर्ण प्रतिकूल एवं सौभाग्यपूर्ण अनुकूल दोनों ही प्रकार के होते हैं । इतिहास राम का भी है, रावण का भी । युधिष्ठिर का भी है, दुर्योधन का भी है । विधि के अनुकूल इतिहास से शिक्षा ग्रहण करनी चाहिए, विधिविरुद्ध इतिहास से नहीं। अतएव **''रामादिवद्वर्तितव्यं न रावणादिवत्''** रामादि तथा युधिष्ठिरादि के समान ही हमें बर्ताव करना चाहिए, रावणादि तथा दुर्योधनादि के समान नहीं । द्रौपदी के पांच पति थे, लेकिन उनका अनुसरण नहीं किया जा सकता क्योंकि वह विधिविरुद्ध है । स्वर्गलक्ष्मी रूपा द्रौपदी के तो पांचो पति एक इन्द्र के ही धर्म, बल, रूपादि से पांच रूप में व्यक्त हुए थे- यह सदा सम्भव नहीं है । अतः उक्त वैदिक वचन तथा अन्य रामायण

पुराणादि के समुद्रयात्रा का इतिहास बतलाने वाले वचन विधि का उल्लंघन नहीं कर सकते हैं, क्योंकि वे श्रौत निषेध के विरुद्ध हैं । मन्त्र, अर्थवाद आदि सभी विधि के ही शेष होते हैं, विधिविरुद्ध अर्थबोध कराने में उनका सामर्थ्य नहीं होता । मन्त्रलिङ्गवलात् विधि कल्पना भी नहीं होती है, क्योंकि जहां प्रत्यक्ष विधि का विरोध न हो, वहीं लिंगबल से विधि-श्रुति की कल्पना होती है । अतएव **"कदाचन स्तरीरसि"** इस मन्त्र में इन्द्र की स्तुति करने का सामर्थ्य है, अतः लिंगबलात् **'ऐन्द्रया इन्द्रमुपतिष्ठेत्'** इस प्रकार विधि की कल्पना हो सकती थी, परन्तु **'ऐन्द्र या गार्हपत्यमुपतिष्ठते'** इस प्रत्यक्ष श्रुति से ऐन्द्री ऋचा का गार्हपत्य के उपस्थान में ही विनियोग होता है, इन्द्रोपस्थान में नहीं । जैसे यहां **"श्रुति-लिङ्ग-वाक्य-प्रकरण-स्थान-समाख्यानां समवाये पारदौर्वल्यमर्थविप्रकर्षात्"** इस जैमिनी सूत्र के अनुसार श्रुति से लिंग का बोध हो जाता है, ठीक वैसे ही **"नान्तमियात्"** इस प्रत्यक्ष निषेध से विरुद्ध होने से मन्त्रों के आधार पर विधि की कल्पना नहीं हो सकती । श्रुति से लिंग का बाध होता ही है, यह सब पूर्वमीमांसा के ग्रंथों में प्रसिद्ध है ।

मन्त्र जिस कर्म में विनियुक्त होते हैं, उसके अंग होने से अतत्प्रधान होते हैं, परन्तु विधि, निषेध स्वार्थपर्य्यवसायी होने से किसी का अंग न होने से तत्प्रधान होते हैं । अतत्प्रधान वचनों से तत्प्रधान वचन प्रबल होते हैं- **"तत्प्रधानान्यतत्प्रधानेभ्यो वलीयांसि"**- इस दृष्टि से भी इतिहास बोधक मन्त्र से निषेधबोधक वचन प्रबल है ही । मन्त्रों एवं अर्थवादों की आख्यायिकाएं सुखावबोधार्थ होती हैं । किसी घटना के बोधन में उनका तात्पर्य नहीं होता है । अतएव प्राण-विवाद, संवाद आदि का प्राणस्तुति में ही तात्पर्य माना जाता है । वह स्वाभाविक भी था । श्रीसीता का अन्वेषण करने के लिये और सीताहरण करने वाले को दण्ड देने के लिये वानरों सहित श्रीराम का लङ्का जाना अविवार्य आपद्धर्म था, क्षात्रधर्म भी आदरणीय है । मर्यादा पुरुषोत्तम श्रीराम शास्त्रप्रामाण्यवादी थे । इसी से यह सिद्ध है कि उन्होंने समुद्रयात्रा के शास्त्र विहित प्रायश्चित्त का अनुष्ठान किया था, यद्यपि श्रीराम सेतु द्वारा लङ्का गये और कन्द-मूल-फलाशी रहकर सर्वथा असंश्लिष्ट रहे ।

<u>कलिवर्ज्य का स्पष्टीकरण</u>

कलिवर्ज्य के अनुसार विदेशयात्रा करने वाले की अग्राह्यता तो कलि में ही है। कलिवर्ज्य में कहा गया है कि कलि में समुद्र की नाव(जहाज) आदि - द्वारा विदेश यात्रा करने वाले की शोधित(प्रायश्चित्त करने पर भी) जातिग्राह्यता नहीं है । इससे यह

भी सिद्ध होता है कि अन्य युगों में भी समुद्र-नौकादि द्वारा विदेशयात्रा निषिद्ध थी, परन्तु उस समय शोधित का संग्रह हो सकता था ।

समुद्रस्य तु नौयारतुः शोधितम्याप्यसंग्रहः ।

गङ्गासागर, द्वारका आदि की जहाज से यात्रा तो तीर्थयात्रा होनें के कारण निषिद्ध थी ही नहीं, तभी समुद्र-नौका से विदेश यात्रा का ही निषेध निबन्धकारों ने माना है ।

अर्जेन्टाइना को अर्जुनायतन, तुर्वसु से शासित प्रदेश को तुर्किस्तान, आर्य के आवास स्थान को ईरान आदि मानने की क्लिष्ट कल्पना निरर्थक है । जब सारा ही भूमण्डल आर्यों से शासित था, तब किसी स्थान को ही ईरान-आर्यायण क्यों माना जाये ? इसी तरह राजसूय के प्रसंग में पाण्डवों ने सभी देशों को जीता था, फिर अर्जेन्टाइना को ही अर्जुनायतन बनाने का प्रयत्न क्यों ?

विवाद-संवाद में उनका तात्पर्य्य सर्वथा ही बाधित होता होता है । वेदमन्त्र किसी घटना के आधार पर बनाये मानें जायेंगे तो उनमें अनित्यता दोष प्रसक्त होगा। लौकिक इतिहासोल्लेख ही घटनापूर्वक हो सकते हैं । वेद तो नित्य है । अतः घटनापूर्वक वैदिक मन्त्रों का उल्लेख नहीं होगा । हां, वैदिक सुखावबोधार्था आख्यायिका के आधार पर कईं घटनायें घट सकती हैं, परन्तु विधिविरुद्ध होने से वह भी स्वार्थपर्य्यवसित न होगी । जहां विधिविरोध न हो, वहां अवान्तर तात्पर्य आख्यायिका के स्वार्थ में भी हो सकता है । उक्त मन्त्र अश्विद्वय की स्तुति मात्र में पर्यवासित है, क्योंकि उसी में उनका विनियोग है । अतः इनसे समुद्रयात्रा विधिसिद्ध नहीं होती ।

<u>रामायण पुराणादि से भी विदेशयात्रा का समर्थन नहीं हो सकता-</u>

गत्वा पार समुद्रस्य मार्गितव्यस्ततस्तः ।

ततः समुद्रं द्वीपांश्च सुभीमान्द्रष्टुमर्हथ ।।

क्षीरादमतिसंक्रम्य यवद्वीपं सप्तराज्योपशोभितमू ।

सुवर्णरूपव्यद्वीपं सुवर्णाकरमण्डितम् ।।

द्वीपस्तम्य परे पारे समुद्रे शतयोजने ।

समतिक्रम्य तं देशमुत्तरे पयसां निधिः ।।(वा.रा. किष्किन्धा ४० से ४३ सर्ग तक)

वानरों के प्रति सुग्रीव का कथन है कि समुद्र के पार जाकर जहाँ-तहाँ सीता को ढूंढना, उसके बाद तुम्हें भयंकर सप्तद्वीप मिलेंगे । क्षीरसमुद्र का लंघन कर सात राज्य वाले यवद्वीप, स्वर्णद्वीप में ढूँढना । शतयोजन समुद्र के पार एक देश मिलेगा, उसको लांघकर तुम्हें उत्तर दिशा का समुद्र दीख पड़ेगा । इन वचनों से भी म्लेच्छदेश यात्रा का समर्थन नहीं होता । इतना ही क्यों, श्रीरामचन्द्र भी तो लङ्का गये थे ।

प्राचीन भारत में विमानविद्या

"शस्त्रेनैव आकाशयोधिनः" (अर्थशास्त्र अधि ७ आ १० सू.४८)

आदि से भारत में विमान विद्या थी इसमें किसी आस्तिक प्रामाणिक भारतीय को विवाद नहीं । कर्दमनिर्मित विमान पुष्पक, सौभ आदि तथा कथासरित्सागर में अनेक विमानों का वर्णन प्रसिद्ध है । वशिष्ठ-मन्त्रोक्षणजन्य प्रभाव से रघु का रथ भी समुद्र, आकाश और पर्वतों पर चलता था, यह सब ठीक है, पर इसका प्रकृत विषय पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता । भारतीय नौसेना तथा शक्तिशाली जहाजी बेड़ा की भी मान्यता में कोई बाधा नहीं । किसी भी बड़े राष्ट्र को विशेषतः विश्व-शासक को उसका प्रबन्ध करना ही चाहिए । परन्तु इससे प्रकृत विधिनिषेध पर कोई आंच नहीं आती । आज भी भिन्न-भिन्न देशों में उन-उन देशों के कर्मचारी एवं सैनिक आदि होते हैं । मुख्य प्रशासकों का नियंत्रण सब पर होता है । किन्हीं विशेष अवसरों पर युद्धादि के प्रसंगवश शासक या शासकीय उच्च अधिकारी भी अगम्य स्थानों में जाते हैं द्य अगम्य स्थानों में जाकर जब वे लौटते थे, तब वे प्रायश्चित्त कर लेते थे ।

(कश्यपः) मिश्रदेशे मुनिर्गतः ।

सरस्वत्याज्ञया कण्वो मिश्रदेशमुपाययौ ।। (भ.पु. प्रतिसर्ग पर्व ६/२१)

कश्यप का मिश्रदेश में जाना या कण्व का भी मिश्रदेश में जाना युगान्तर में ही समझना चाहिए । धर्मराज युधिष्ठिर के भी राजसूय यज्ञ में औष्णीक, रोमन, चीन, शक, हूण आदि के आने में तो कोई आपत्ति की बात हो ही नहीं सकती ।

भ्रान्त धारणा

कहा जाता है कि भारत में चक्रवर्तिपरम्परा समाप्त हो गयी । द्वीपान्तरों में आने जाने का क्रम लुप्त हो गया । केवल स्थल मार्ग रह गया । प्रवासी भारतीय शनैः शनैः धर्म-कर्म भूल गये । मनुजी ने कहा है-

"शनकैस्तु क्रियालोपादिमाः क्षत्रियजातयः ।

वृषलत्वं गता लोके ब्राह्मणानामदर्शनात् ।।"

भारत से द्वीपान्तर में गये हुए सूर्यवंशी चन्द्रवंशी क्षत्रिय शिक्षक ब्राह्मणों के न मिलने से वृषलता(धर्महीनता) को प्राप्त हो गये । पर मनुस्मृति तो उनके राजत्व काल का संविधान है । आदि सम्राट् मनु के राजत्वकाल में जब कि आर्य जाति का प्रसार पूरे भारत में कदाचित् न हो पाया होगा, तब ही रहन-सहन की सुविधा की दृष्टि से उनका अपने संविधान(मनुस्मृति) में भारत के अमुक-अमुक प्रदेशों में बसने न बसने का नियम सुसंगत हो सकता है, जैसा कि उन्होंने स्वयं लिखा है :-

"एतान् द्विजातयो देशान् संश्रयेरन् प्रयत्नतः"

फिर **"शनकैस्तु क्रियालोपात्"** इस वचन को ही ह्रास काल का क्यों माना जाय ? अतः कहना पड़ेगा कि मनु सर्वज्ञकल्प थे, केवल अपने शासनकाल के लिये ही नहीं, किन्तु उन्होंने विभिन्न देशकालों के लिये भी अपनी मनुस्मृति में वेदादिशास्त्रानुसार ही विभिन्न विधानों का उल्लेख किया है । जब यह कहा जाता है कि वर्तमान काल के शिन्तो, यहूदी, ईसाई, मुसलमान आदि लोग उन्हीं धर्मभ्रष्ट आर्यों की संततियाँ है तब इस पर ध्यान क्यों नहीं दिया जाता है कि ब्राह्मणों का अदर्शन क्यों हुआ ? मनु के ही वचनों पर ध्यान किया जाय तो स्पष्ट हो जायेगा कि मनु ने ही लिख रखा है कि द्विजाति लोग प्रयत्न करके भारतवर्ष की ब्रह्मावर्त आदि भूमि में ही रहें, क्योंकि इन देशो से भिन्न देश म्लेच्छ देश है, वहाँ न जायँ । युधिष्ठिर, भीम आदि का काल तो उन्नति का काल ही माना जायगा, परन्तु उस समय भी आर्य्य, म्लेच्छ आदि का भेद हो चुका था । यह माना ही जाता है कि उनके राजसूय यज्ञ में यवन, अन्तर्वास, रोमक, पुरुषादक, तुरुष्क, अङ्क, मौन, श्रृङ्गी आदि एवं चीन, शक, हूण आदि आये थे ।

"यवनैः सहितो राजा भगदत्तो महाबलः ।

औष्णीकान् अन्तर्वासांश्च रोमकान् पुरुषादकान् ।।

चीनांस्तथा शंकाश्चौव चौण्डान् वर्करान् वनवासिनः ।

शकास्तुरुष्काः कंकाश्च मौनाश्च श्रृङ्गिणो नराः ।।"

(महाभारत सभा पर्व अ.६ ५१/५२)

महाभारत के भीष्म आदि के समय भी तो मनुस्मृति का सम्मान था । इतना ही क्यों वाल्मीकि रामायण में भी मनु के श्लोक उद्धृत हैं । **"यद्वैमनुरवदत्तद्भेषजम्"**- मनु ने जो कहा वह औषध है, इस तरह अनादि वेद में जिन मनु का वर्णन है क्या उनके द्वारा वर्णित चौण्ड आदि जातियाँ युधिष्ठिर के बाद की हो सकती है ? और क्या मनुस्मृति का आर्य-म्लेच्छदेश का भेद युधिष्ठिर के पश्चात् अवनति काल का है ? बहुत सी जातियों की उत्पति वसिष्ठ की नन्दिनी धेनु के अवयवों से कही गयी है, फिर सभी म्लेच्छदेश निवासी आर्य क्षत्रिय ही थे, यह कैसे कहा जा सकता है ?

तस्या हुँभारवोत्सृष्टाः पह्लवाः शतशो नृप । (बालकाण्डे ५४ सर्गे १८)

भूय एवासृजद्घोराञ्छकान्यवनमिश्रितान् ।

तैरासीत्संवृता भूमिः शकैर्यवनमिश्रितैः ।।

तस्या हुँकारतो जाताः काम्बोजा रविसन्निभाः ।

ऊधसश्चाथ सम्भूता वर्वरा शस्त्रपाणयः ।।

योनिदेशाच्च यवनाः शकृद्देशाच्छकाः स्मृताः ।

रोमकूपेषु म्लेच्छाश्च हारीताः सकिरातकाः ।। (वा. रा. १/५५/१-२-३)

वसिष्ठ की सुरभि गौ के हुंभारव से बहुत से अवयवों की उत्पत्ति हुई । पुनश्च-सुरभि ने यवनमिश्रित शकों को उत्पन्न किया । उस सुरभि के हुँकार से सूर्य तुल्य काम्बोज उत्पन्न हुए । ऊधस (थन) से बहुत से शस्त्रपाणि वर्वर उत्पन्न हुए । योनि से यवन और शकृत् (गोबर) से शकों की उत्पत्ति हुई । उसके रोमकूपों से बहुत से म्लेच्छ तथा किरात और हारीतों की उत्पत्ति हुई ।

अतः यही मानना पड़ेगा कि प्रत्यन्त या द्वीपान्तर निवासी बहुत मलेच्छ जातियाँ थी, कुछ आर्य-क्षत्रिय भी युद्धादि के प्रसंग से उनके स्थल पर गये और वहाँ ही रह गये । तभी उन्हें **'प्रवासी'** भी कहा जा सकता है । वहाँ म्लेच्छ देश होने के कारण ब्राह्मणों का जाना नहीं हुआ, अतः ब्राह्मणों के अदर्शन से उनमें भी वृषलता म्लेच्छता आ गयी ।

विपरीत धारणा

विदेशयात्रा के समर्थक कहते हैं कि – ''प्रत्येक क्रिया की प्रतिक्रिया स्वभावतः होती है । सात आठ सौ वर्ष तक विदेशियों के अत्याचारों से संत्रस्त भारतीय जनता मानसिक दासता के चङ्गुल में फँस गयी । जिनके पूर्व पुरुष लक्षाब्दियों तक सप्तद्वीपों का शासन करते रहे, उनके ही वंशधर विदेशों की कौन कहे भारत के ही अमुक-अमुक प्रदेशों में भी जाना धर्मविरुद्ध मानने लग पड़े । ढूँढ ढूँढकर शास्त्रों के वचन निकाले जाने लगे और खैंचातानी से उनके अर्थों का अनर्थ करके, किंवा जब यह भी संभव न हुआ तो **'कपोल कल्पित प्रक्षेप'** करके भारतीय प्रमाणवादी आस्तीकों को बहकाने लगे और ऐसा वायुमण्डल बना डाला कि एक प्रान्त के व्यक्ति दूसरे प्रान्त में न जाँय तथा कूपमण्डूक होकर अपना सर्वनाश कर लें ।''

वस्तुतः यह धर्मविचार की भारतीय सनातन पद्धति नहीं है । मुताक्षरा, व्यवहार-मयूख, हेमाद्रि, पराशरमाधव, धर्म-सिन्धु, निर्णय-सिन्धु आदि निबन्धग्रन्थों में 'मीमाँसा' की दृष्टि से वचनों का समन्वय किया गया है । उनमें किसी वचन को क्षेपक कहकर पिण्ड छुड़ाने का प्रयास नहीं किया है ।

''एतान् द्विजातयो देशान् संश्रयेरन् प्रयत्नतः'' इत्यादि वचनों को उस समय के लिये उचित बतलाना जबकि मनु के राज्यकाल में आर्य जाति का प्रसार पूरे भारत में कदाचित् न हो पाया होगा तब ही रहन-सहन की सुविधा की दृष्टि से उनका अपने संविधान मनुस्मृति में भारत के अमुक-अमुक प्रदेशों में बसने न बसने का नियम सुसङ्गत हो सकता है यह कहना साहसमात्र है । ऐसा असंगत अभिप्राय आज तक किसी विद्वान् ने नहीं निकाला । इसी तरह-

'सिन्धु-सौवीर-सौराष्ट्र तथा प्रत्यन्तवासिनः ।

कलिङ्ग-कौङ्कणान् वंगान् गत्वा संस्कारमर्हति ।।''

देवलस्मृति आदि के वचनों को मानसिक दासता का कुपरिणाम और सात-आठ सौ वर्ष का अर्वाचीन कहना भी शुद्धप्रतिक्रियावाद ही कहा जायगा । यह कथन उनके पूर्वपुरुष सप्तद्वीप पर शासन करते थे, वे भारत के ही अमुक-अमुक प्रदेशों में जाना आना धर्मविरुद्ध मानने लगे 'कपोल कल्पित प्रक्षेप' तथा 'कूपमण्डूक होकर अपना

सर्वनाश कर लें' - आदि असंगत है । ऐसी युक्तियां अपने विरोधियों का ही उच्छिष्टसंग्रहमात्र हैं जो पुराणों को पाँच सात सौ वर्ष का मानते हैं ।

विदेशयात्रा के समर्थक कहते हैं-

''आस्तिकों के बहकाने और कूपमण्डूक होकर सर्वनाश कर लेने का उदाहरण निम्नोक्त है-

''न जनमियात् नान्तमियात् ।'' (बृहदारण्यक १/३/१०)

शास्त्रीयज्ञानादिसंस्कृतजनाधिष्ठितमध्यदेशातिरिक्तदेशो दिशामन्तः तत्र दिशामन्ते तत्संस्थे जने च पाप्मानं गमयाञ्चकार ।

तस्मात्तमनत्यं जनं नेयात दर्शनसंभाषणादिभिर्न संसृजेत् तज्जननिवासस्थानं नेयात् न गच्छेत् ।।

उपर्युक्त प्रघट्टक का सीधा तात्पर्य्य यह है की मनुष्य को पापियों की संगती से और पापियों के आवास स्थानों के संसर्ग से भी दूर रहना चाहिये । परंतु इस सर्वोपयोगी उपदेश को टीकाकारों ने अपनी खैंचतानी के पाप्मा से ऐसा विकृत कर डाला कि ''विनायक प्रकुर्वाणो रचयामास वानरम्'' ही बनाकर छोड़ा । श्रीस्वामी नित्यानन्दाश्रम अपनी टिका में कहते हैं कि शास्त्रीय ज्ञान से सुसंस्कृत मनुष्यों से अधिष्ठित जो मध्यदेश है उसके अतिरिक्त अन्य देश 'दिगन्त' शब्द वाच्य है । मनुष्य को चाहिये, दिगन्तस्थ जनों से संसर्ग न करे । मध्यदेशातिरिक्त भारत के अन्यान्य प्रान्तों में न जाय । पर वस्तुतः खींचातानी का पाप्मा विदेशयात्रा के समर्थक ही कर रहे है । नित्यानन्दजी ने तो शास्त्रीय ज्ञानादि संस्कृत जनाधिष्ठित मध्यदेश भारत से अतिरिक्त देश को दिगन्त बतलाया है, मध्यप्रान्त से अतिरिक्त प्रान्त को नहीं, यह तो विदेशयात्रा के समर्थकों का ही व्यामोह एवं अभिनिवेश है, जिससे कुछ का कुछ अर्थ उन्हें भासता है ।

श्रुति के अनुसार भूमंडल में भारतवर्ष ही मध्यदेश है। उसका अंत ही दिगन्त है । यहाँ मनुप्रोक्त मध्यदेश उसका अर्थ नहीं है, किन्तु शास्त्रीय ज्ञान-कर्म संस्कृत जन एवं तन्निवासस्थान भारतवर्ष ही मध्यदेश अभीष्ठ है। श्रीभागवत एवं विष्णुपुराण में

भारतवर्ष को कर्मभूमि कहा गया है और वहाँ वर्णाश्रमवती प्रजा का निवास कहा गया है ।

आगे विदेशयात्रासमर्थन के अभिनिवेश मे लोग कहते हैं - "हो गया ना मघवा मूल विडौजा टीका । टीकाकार प्रांतीयता के व्यामोहव मे इतना मुग्ध हो गया कि उसने न केवल 'वसुधैव कुटुम्बकम्' के उच्च आदर्श को भुला दिया, अपितु कुरुक्षेत्र से प्रयाग तक और हिमालय से विन्ध्य तक के भूभाग को छोडकर शेष समस्त भारत को ही अगम्य एवं तन्निवासियों को असंभाष्य बना दिया ।" पर यह विदेशयात्रा समर्थकों का ही व्यामोह है कि शास्त्रीय ज्ञान संस्कृत जनाधिष्ठित मध्यदेश को मनुप्रोक्त-

"हिनवद्विन्ध्यययोर्मध्यं यत्प्राग् विनशनादपि ।

प्रत्यगेव प्रयागाच्च मध्यदेशः प्रकीर्तितः ।।" (२/२१ मनु)

कुरुक्षेत्र से प्रयाग तक और हिमालय से विन्ध्य तक के भूभाग को मध्यदेश समझ लिया, क्योंकि टीका के किन्हीं भी शब्दों से वैसा अर्थ कदापि नहीं निकलता । वस्तुतः टीकाकार ने शाङ्करभाष्य का अनुसरण किया है और जो शाङ्करभाष्य एवं सुरेश्वराचार्य के वार्तिक का अभिप्राय है वही टीकाकार ने लिखा है ।

मध्यदेश या भारतवर्ष से भिन्न देश ही 'दिगन्त' शब्द का अर्थ है

'श्रौतविज्ञानवज्जनावधिमित्तकल्पितत्वाद्दिशाम्, तद्विरोधि जनाध्युषित एव देशो दिशामन्तः, देशान्तोऽरणयमिति यद्वदित्यदोषः प्राणात्माभिमान शून्येषु अन्त्यजनेषु सामर्थ्यात्तमन्त्यं जनं नेयात् ।। तज्जनिवासं चान्तं दिगन्तशब्दवाच्यं नेयात् ।'

क्या इस शाङ्करभाष्य को 'मघवा मूल विडौजा टीका' नहीं कहा जा सकता। इसकी अपेक्षा तो टीकाकार का अर्थ कहीं स्पष्ट है । परन्तु आद्य शङ्कराचार्य एवं वार्तिककार को पक्ष में लेने के लिए इनके भाष्य को खींचतान कर अपने अनुकूल बनाया जा रहा है और उसकी व्याख्या करते हुए कहा जाता है कि वेदादि शास्त्रज्ञ व्यक्ति जिस सीमा तक निवास करते हैं तादृश क्षेत्रों में दिशाओं की कल्पना की गयी है । तद्विरोधी व्यक्ति जहाँ बसते हैं वही प्रदेश दिशाओं का अन्त कहा जाता है । देशान्त को अरण्य कह सकते हैं, इसलिए प्राणात्मा के अभिमान से शून्य जो अन्त्य जन हैं, उनके संसर्ग में न जायं एवं तदधिष्ठित क्षेत्र में भी न जाय ।

आगे कहा जाता हैं- ''आद्य शङ्कराचार्य के उपर्युक्त कथन में क्या विप्रतिपत्ति हो सकती है । यह तो सर्वमान्य सिद्धांत है कि पापिष्ठ लोगों के कुसङ्ग से और उनके आवास स्थान के सम्पर्क से भी आस्तिकों को सदैव दूर रहना चाहिए। यह परिस्थिति सभी देशों एवं सभी प्रांतों में लागू हो सकती है । परन्तु इसका यह अभिप्राय निकालना कि अमुक प्रान्त या अमुक देश में नहीं जाना चाहिए- यह तो बुद्धि का अजीर्ण ही कहा जायगा ।''

परन्तु वस्तुतः विदेश यात्रा समर्थकों का उक्त विचार ही बुद्धि की अजीर्णता है । उन लोगों ने ही भाष्य का अशुद्ध अर्थ और अशुद्ध अभिप्राय निकाला है ।

''न जनमियात् नान्तमियात्''

इसका प्रसङ्ग तथा भाष्य व्याख्यान यों है ।

<u>बृहदारण्यक श्रुति का शुद्ध अर्थ</u>

देवताओं ने असुरों को अभिभूत करने के लिये वागादि देवताओं से उद्गीथ में औद्गात्र करने के लिये प्रार्थना की । परन्तु उनमें स्वार्थ का आसङ्ग था । इसलिए असुरों ने उनमें पाप्मा का वेध कर दिया । अन्त में देवताओं ने मुख्य प्राण को औद्गात्र करने के लिये कहा । प्राण ने औद्गात्र कर्म किया । वागादि ने देवताओं के लिए उद्गान किया और अपने लिये भी उद्गान किया । किन्तु प्राणों ने देवताओं के लिये ही उद्गान किया अपने लिये नहीं । असुरों ने वागादि में जैसे पाप्मा का वेध किया था वैसे ही प्राणों में भी पाप्मा का वेध करना चाहा, परन्तु जैसे पाषाण पर पड़कर मिट्टी का ढेला नष्ट हो जाता है वैसे ही असुर स्वयं ही विध्वस्त हो गये । यह कथा छान्दोग्य में भी १ अ. ख. २ है ।

इस उपनिषद् का प्रसङ्ग स्पष्ट करते हुए लोग कहते हैं-

''देवता प्राणों की शरण में गये । उनमें पाप्मा प्रविष्ट करनी चाही ।'' पर यह असंगत और अशुद्ध है ।

यह कहा जाता है कि पाप्माओं को दिशाओं के अन्त में भगा दिया, परन्तु किसने भगा दिया यह नहीं बतलाया । यह वहीं स्पष्ट निर्देश है कि-

“सा वा एषा देवतैतासां देवतानां पाप्मानं मृत्युमपहत्य यत्रासां दिशामन्तस्तद्गमयाञ्चकार । तदासां पाप्मनो विन्यदधात्तस्मान्न जनमियात् नान्तमियान्नेत्पापमानं मृत्युमन्वपाणयानीति ।”

अर्थात् एक प्राणदेवता ने वागादि देवताओं के पाप्मा रूप मृत्यु को अपहृत करके उसे प्राच्यादि दिशाओं का जहाँ अन्त होता है वहाँ खदेड़ दिया । वहीं भाष्यकार ने विचार किया है-

“ननु नास्ति दिशामन्तः कथमन्तं गमयाञ्चकार”

अर्थात् दिशाओं का तो अन्त ही नहीं होता । जैसे आकाश अनन्त है वैसे दिशायें भी अनन्त हैं ? इसी प्रश्न का समाधान करते हुए भाष्यकार ने कहा है कि-

“श्रौतविज्ञानवत् जनाविधिनिमित्तकल्पितत्वाद्दिशां तद्विरोधिजनाध्युषित एव देशो दिशामन्तः देशान्तोऽरण्यमिति यद्विदित्यदोषः ।”

अर्थात् श्रुति-स्मृत्यादिजनित विज्ञानवान् जनों के निवास अवधि सीमा को निमित्त बनाकर दिशाओं की कल्पमा की गयी है । अर्थात् श्रौतविज्ञानसंस्कृत जन एवं उनसे अधिष्ठित देश ही दिशाएँ है, तद्विरोधि जनाध्युषित देश ही दिशाओं का अन्त है। उन्होंने ‘अन्त’ की अपेक्षा से श्रौतविज्ञानवज्जनाधिष्ठित देश को ही मध्यदेश कहा है । जैसे देश का अन्त न होने पर भी अरण्य को देशान्त कहा जाता है, वैसे ही दिशाओं का अन्त न होने पर भी श्रौतविज्ञानवान् जनों से अधिष्ठित देश भारतवर्ष से भिन्न देशों को दिशाओं का अन्त कहा जाता है, क्योंकि भारत तो श्रौत-स्मार्त संस्कृत जनों से अधिष्ठित ही है । दिगन्तों की अपेक्षा वही मध्यदेश है ।

‘देशान्त’ को अरण्य कहना ठीक नहीं है, क्योंकि प्रसिद्ध के द्वारा अप्रसिद्ध का निर्देश किया जाता है । देशान्त अप्रसिद्ध है, परन्तु अरण्य तो प्रसिद्ध ही है । अतः अरण्य को जैसे देशान्त कह दिया जाता है वैसे ही वर्णाश्रमसंस्कार संस्कृत जनाध्युषित देश से भिन्न देश को ही दिगन्त कहा जाता है - यही कहना चाहिए ।

किसी देश या प्रान्त को दिगन्त नहीं कहा जा सकता है । पापिष्ठों एवं उसके आवास स्थानों से आस्तिकों को सदैव दूर रहना चाहिए वह परिस्थिति तो सभी देशों, सभी प्रांतों में होती है । इसका यह अभिप्राय निकालना कि अमुक प्रान्त किंवा अमुक देश में नहीं जाना चाहिए - बुद्धि का अजीर्ण ही है ।

“पापिष्ठजन और तदधिष्ठित प्रदेश असंसेव्य है फिर चाहे वह जहाँ भी हो- इससे भी भारत्तेतर देशों मे न जाने की बात सिद्ध नहीं होती । भारत में भी पाप्मोपसृष्ट व्यक्ति और प्रदेश असंसेव्य हो सकते हैं ।” यह कथन असंगत ही है, क्योंकि इस तरह तो श्रौतविज्ञानवान् प्रत्येक व्यक्ति एवं तदधिष्ठित भूमि से भिन्न एक घर का भी व्यक्ति एवं एक घर की ही तदधिष्ठित भूमि दिगन्त होगी । फिर उसमें जानें और न जानें की बात सम्भव ही नहीं होगी द्य ऐसी स्थिति में **“नान्तमियात्”** इत्यादि निषेध ही व्यर्थ होगा । एक व्यक्ति से अधिष्ठित भूमि में अवकाश न होने से ही दूसरे व्यक्ति का जाना सम्भव नहीं होगा, अतः जहाँ इन प्राच्यादि दिशाओं का अन्त है वहाँ पाप्माओं को खदेड़ दिया- इस अभिप्राय की सिद्धि नहीं हो सकती । इसलिए श्रौतविज्ञानवान् व्यक्ति से पाप्मा को हटा दिया इतना कहना ही पर्याप्त था । इसके अतिरिक्त “यत्रासां दिशामन्तस्तद्गमयाञ्चकार” इस उक्ति का कोई भी अर्थ हो नहीं रह जाता है । इसलिए आद्य शङ्कराचार्य ने ‘दिशाओं का अन्त ही नहीं होता, फिर दिशाओं के अन्त में पाप्माओं को कैसे खदेड़ा जा सकता है ?’ यह शङ्का करके समाधान किया है - जैसे अरण्य को देश का अन्त कह दिया जाता है वैसे ही श्रौतविज्ञानवान् वर्णाश्रमधर्मनिष्ठ जन एवं तदधिष्ठित मध्यदेश भारतवर्ष में दिशाओं की कल्पना करके तद्विरोधी जनों एवं उनसे अध्युषित प्रत्यन्त-म्लेच्छ देशों को ही ‘दिगन्त’ कहा जा सकता है, इसी कारण वहाँ नहीं जाना चाहिए । उस अन्त्य जन के पास न जाए, भाषण दर्शनादि से संपृक्त न हो और उनके निवासभूत दिगन्त शब्द वाच्य देश में भी न जाए ।

“तस्मात्तमन्त्यं जनं नेयात् संभाषणदर्शनादिभिर्न संसृज्येत्

तज्जननिवाससञ्चान्तं दिगन्तशब्दवाच्यं नेयाज्जनशून्यमपि ।”

सर्वत्र ही भाष्य का स्पष्टीकरण टीकाकार आनन्दगिरि करते हैं। यहा भी आनन्दगिरी भाष्य का स्पष्टीकरण करते हुए कहते हैं- “शास्त्रीयज्ञान-कर्मसंस्कृतो जना मध्यदेशः । प्रसिद्धम्यापि तदधिष्ठितत्वेन मध्यदेशत्वात् तत्राप्यन्त्यजाधिष्ठित देशस्यपापोयस्त्वस्वीकारादतस्तंजनं तदधिष्ठितञ्च देशमवधिं कृत्वा तेनैव निमित्तेन दिशां कल्पितत्वादानन्त्याभावात् पूर्वोक्तजनातिरिक्तजनस्य तदधिष्ठितदेशस्य चान्तत्वोक्तेर्मध्यदेशादन्यो देशो दिशामन्त इत्युक्तेर्न कदाचिदनुपपत्तिः ।”

अर्थात् इस प्रसङ्ग में शास्त्रीय ज्ञान एवं कर्मों से संस्कृत जन ही मध्यदेश है । प्रसिद्ध मनूक्त मध्यदेश भी शास्त्रीय कर्म ज्ञान संस्कृत जनों से अधिष्ठित होने के कारण ही मध्यदेश कहलाता है ।

"हिमवद्विन्ध्ययोर्मध्यं यत्प्राग्विनशनादपि ।

प्रत्यगेव प्रयागाच्च मध्यदेशः प्रकीर्तितः ।।" २१२ ।।

हिमवान् एवं विन्ध्य का मध्य तथा कुरुक्षेत्र से प्रयाग तक मध्यदेश है । प्रसिद्ध मध्यदेश में भी अन्त्यजादि अधिष्ठित देश को पापीयान् माना जाता है, अतः शास्त्रीयज्ञान कर्मसंस्कृत जन एवं तदधिष्ठित देश की अवधि (सीमा) बनाकर उसी निमित्त से दिशाएं कल्पित हैं । ऐसी कल्पित दिशाएं अनन्त नहीं हैं । इनका अन्त है ही । इस तरह पूर्वोक्त शास्त्रीय ज्ञान कर्म संस्कृत जनों से अतिरिक्त जन एवं तदधिष्ठित देश ही दिशाओं का अन्त है । इस तरह शास्त्रीय ज्ञान-कर्म-संस्कार संस्कृत जन एवं तदधिष्ठित भारतवर्ष ही मध्यदेश है । उससे अन्य देश ही दिशाओं का अन्त है । अतः, दिशाएं अनन्त हैं उनका अन्त ही नहीं होता, इत्यादि कोई भी अनुपपत्तियाँ नहीं होती हैं ।

"तस्य च शिष्टैस्त्याज्यत्वं, निषेधद्वयस्य तात्पर्यमाह" :-

शिष्ट लोगों द्वारा उक्त शास्त्रीय ज्ञान-कर्म संस्कार वाले जन एवं तदधिष्ठित देश से विपरीत जन एवं तदधिष्ठित देश त्याज्य हैं- इसी का सार नित्यानन्दाश्रम ने कहा है । इसी ढ़ङ्ग का अभिप्राय वार्तिककार सुरेश्वराचार्य ने स्पष्ट किया है, पर विदेशयात्रासमर्थक भ्रान्ति से उसे तोटकाचार्य का समर्थन समझ लेते हैं ।

वार्तिककार सुरेश्वराचार्यजी ने भी मध्यदेश से उपलक्षित आनन्दगिरि की व्याख्या के अनुसार मध्यदेश से व्यावर्तित(भिन्न) देश को ही दिशाओं का अन्त दिगन्त कहा है-

"दिशामन्त इह ग्राह्यो मध्यदेशोपलक्षितः ।

अनन्ताकाशदेशत्वान्नञ्जसाऽन्तो दिशां यतः ।।" २१६ ।।

यहाँ प्राच्यादि दिशाओं का अवसान ही दिगन्त है- यह नहीं कहा जा सकता, क्योंकि आकाशदेश ही दिशाएँ हैं, आकाश अनन्त है । अतः प्राच्यादि दिशाओं का अन्त नहीं हो सकता । ऐसी स्थिति में प्रकृत में मध्यदेश से व्यावर्त्तित देश ही दिगन्त समझना चाहिए । इस पर भी आनन्दगिरि के अनुसार शङ्का होती है कि-

"आर्य्यावर्त्तः पुण्यभूमिर्मध्यं विन्ध्यहिमालयोः"

इस प्रसिद्धि के अनुसार विन्ध्य-हिमालय के मध्य की भूमि ही मध्यदेश है । यदि मध्यदेश भिन्न भूमि पाप्मा का आश्रय होगी तब तो प्रामाणिक प्रसिद्धि का विरोध होगा, क्योंकि समस्त भारत ही पवित्र भूमि रूप से प्रसिद्ध है । तभी तो-

"अहो अमीषां किमकारि शोभनं प्रसन्न एषां स्विदुत स्वयं हरिः ।

यैर्जन्म लब्धं नृषु भारताजिरे मुकुन्दसेवौपयिकं स्पृहा हि नः ।।"

(श्रीभागवत ५ स्कन्ध)

"देवता भारतवासियों की सराहना करते हुए भारत में जन्म पाने की लालसा रखते हैं, अतः मध्यदेश से अतिरिक्त भारत भूमि के अन्य भागों को पाप्मा का आश्रय नहीं कहा जा सकता है ।" इस आक्षेप का समाधान करते हुए वार्तिककार कहते हैं-

"श्रुतिस्मृतिसदाचारसंस्कृताशयवज्जनम् ।

अवधीकृत्यान्तत्वोक्तेर्नतु दोषो मनारापि ।।"

(२२० श्लो., १ अ. ४ वृ. ३ ब्रा.)

अर्थात् प्रकृत में श्रुति-स्मृति-सदाचार के संस्कारों से संस्कृत जन ही मध्यदेश शब्द का अर्थ विवक्षित है, केवल विन्ध्य-हिमालय का मध्य नहीं । शास्त्र प्रसिद्ध अनिन्दित आचारसंस्कृत मन वाले लोगों का वासस्थान होने से ही प्रसिद्ध मध्यदेश को भी मध्यदेश कहा जाता है । वहाँ भी अन्त्यजों से अधिष्ठित देश को पापीयान् कहा जाता है, इसलिए शास्त्रप्रसिद्ध सदाचारसंस्कृत जन एवं तदधिष्ठित भारतवर्ष ही प्रकृत में मध्यदेश विवक्षित है । भारतेतर देश ही दिशाओं का अन्त है, अतएव दिगन्त है । वहाँ भी खदेड़कर विविधरूप से पाप्मा को निहित किया गया है। इस कारण वे भारतेतर द्वीपान्तर ही दिगन्त एवं पाप्मा के आश्रय प्रत्यन्त या म्लेच्छ देश हैं-

"मध्यदेशावधिस्तस्माद्दिगन्त इह गृह्यते ।

प्रात्यन्तिकजनो देशः पापियो जनसं श्रयात् ।।

वर्ज्यतेऽतः प्रयत्नेन तद्विद्भिर्ग्धरधुनातनैः ।।" २२१ ।।

अर्थात् प्रकृत में श्रुति-स्मृति-सदाचारवान् जन ही मध्यदेश है । ऐसे सदाचारी जनों एवं उनके निवासस्थान भारतवर्ष से भिन्न जन उनके निवास-स्थान भूत देश ही दिशाओं के अन्त हैं । वे ही प्रत्यन्तदेश म्लेच्छ देश हैं । पापीयान् जनों का आश्रय होने से ही आधुनिक शिष्ट लोग भी प्रयत्न करके म्लेच्छ देश के संसर्ग का वर्जन करते हैं ।

"तेषु प्रत्यन्तदेशेषु तन्निवासिषु चासुरान् ।

यतो विन्यदधात्प्राणस्तस्मात्तद्वर्जयेद्वयम् ।।"

उन प्रत्यन्त देशों में एवं तन्निवासी जनों में प्राणदेवता नें पाप्माओं का बहुधा स्थापन किया था, अतः प्रत्यन्त देशों तथा तन्निवासियों के संसर्ग का प्रयत्न करके वर्जन करना चाहिए । मनु ने भी यही सब कहा है- द्विजातियों के प्रयत्न से आर्यावर्त्त यज्ञीयभूमि भारत में ही रहना चाहिए, म्लेच्छ देश में नहीं । जहाँ स्वभाव से कृष्णमृग विहरण करता है वही यज्ञिय भूमि है । उससे भिन्न देश म्लेच्छ देश है।

''न जनमियान्नान्तमियात् ।''

इस दो निषेध का तात्पर्य वर्णन करते हुये भाष्यकार ने कहा है कि-

''तज्जननिवासम् अन्तं दिगन्तपदवाच्यम् नेयाज्जनशून्यमपि जनमपि तद्देशवियुक्तमित्यभिप्रायः ।''

अर्थात् जनशून्य भी प्रत्यन्तदेश में न जाए और प्रत्यन्तदेश वियुक्त म्लेच्छ जन से भी संसर्ग न करे- यही दोनो निषेधों का अभिप्राय है । आगे वार्तिककार कहते हैं-

''जनो विशिष्टो देशेन देशो जनविशेषितः ।

पाप्मोपसृष्टमुभयं सृष्टा शिष्टास्तद्वन्न यान्त्यतः ।।''

"इत्थं न यदहं कुर्य्यां प्रतिषेधश्रुतीरितम् ।

अन्वयायानि पाप्मानं प्रतिषेधातिलङ्घनात् ।।"

विदेशयात्रा के समर्थक लोग तो इस वार्तिक का भी अशुद्ध अर्थ करते हैं- उनके अनुसार इस क्षेत्र में निवास करने में कुछ भी दोष नहीं है, इत्यादि अर्थ सर्वथा असंगत और अशुद्ध है, क्योंकि प्रतिषेघ का लंघन कर उस क्षेत्र में निवास करने से तो दोष प्राप्त ही है ।

श्रुति-स्मृति-सदाचार सम्पन्न लोगों के क्षेत्र में रहने पर तो दोष की संभावना ही नहीं, फिर उसके निषेध का प्रश्न ही कहाँ है ?

''यदि उक्त निषेधक श्रुति द्वारा प्रोक्त नियम का मैं पालन करूँ तो शास्त्राज्ञा के उल्लंघन के पाप से लिप्त हूँगा ।'' यह सब कहना तो अशुद्ध ही है, क्योंकि श्रुतिप्रोक्त नियम पालन करने से शास्त्राज्ञा का पालन ही हुआ, तब शास्त्राज्ञा के उल्लंघन एवं तज्जन्य पाप से लिप्त होने का प्रसङ्ग ही कहाँ है?

वस्तुतः उक्त वार्तिक का अर्थ निम्न है- जन वियुक्त देश एवं देश वियुक्तजन दोनों ही पाप्मा से उपस्पृष्ट हैं, अतः शिष्ट लोग दोनों से संसृष्ट नहीं होते। इसीलिए

'न जनमियान्नान्तमियात्' - ये दोनों ही निषेध सार्थक होते हैं । ''यदि प्रतिषेध श्रुति से उपदिष्ट पाप्मोपसृष्ट जन या देश का परिहार न करूँगा तो प्रतिषेध का उल्लंघन करने से मैं भी पाप्मा से संसृष्ट हो जाऊँगा'' इसका स्पष्ट अर्थ यहीं है कि शास्त्रीय संस्कार संस्कृतजनों के निवास भूत भारत से भिन्न प्रत्यन्त देश-म्लेच्छ देश हैं, अतः उन देशों तथा तन्निवासियों से संसर्ग न करे ।

कुछ लोग कहते हैं कि यह प्रत्यन्तगमननिषेध प्राणोपासक के ही लिये है, क्योंकि प्राणोपासना के प्रसङ्ग में ही उक्त निषेध वाक्य विद्यमान है, परन्तु इस पक्ष का खण्डन करते हुए वार्तिककार ने कहा है कि प्रकरण की अपेक्षा वाक्य बलवान् होता है । जैमिनि के अनुसार श्रुति, लिङ्ग, वाक्य, प्रकरण, स्थान, समाख्या में परस्पर विरोध होने पर पूर्व पूर्व का प्रावल्य तथा उत्तरोत्तर का दौर्वल्य होता है-

''श्रुति-लिङ्ग-वाक्य-प्रकरण-स्थान-समाख्यानां समवाये पारदौर्वल्यमर्थविप्रकर्षात्।'' (जै.सू.)

अतः प्रकरण को बाधित कर वाक्य रूप निषेध श्रुति सभी के लिये प्रत्यन्तगमन का निषेध करती है-

''सामान्यविषयश्चायं निषेधो नानाविद्वतः ।

वलवत्प्रक्रियातो हि वाक्यं सामान्यमात्रगम् ।।'' (२२७)

अर्थात् 'नान्तमियात्' यह निषेधश्रुतिवाक्य सामान्यतः सभी के लिये है । केवल 'अनवित्' (प्राणवित्) के लिये नहीं, क्योंकि प्रकरण की अपेक्षा सामान्यगामी वाक्य प्रबल होता है । इसी आधार पर मन्वादिस्मृतियों में भारतेत्तर देशों को म्लेच्छ देश कहा है । जहाँ कहीं श्रुत्यर्थ में सन्देह होता है स्मृतिपुराणादि द्वारा उसका स्पष्टीकरण हो जाता है । जैसे-

''ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद् बाहु राजन्यः कृतः ।

उरुतदस्य यद्वैश्यः पद्भ्यां शूद्रोऽजायत ।।''

इस मन्त्र का कुछ लोग यह अर्थ करते हैं कि- ब्राह्मण परमेश्वर का मुखस्थानीय है, क्षत्रिय भुजास्थानीय, वैश्य उरु तथा शूद्र पादस्थानीय है, किन्तु सनातनी लोग 'पद्भ्यां शूद्रोऽजायत' के अनुरोध से यह अर्थ करते हैं कि ब्राह्मण परमेश्वर के मुख (मुखशक्ति) से उत्पन्न हुआ, क्षत्रिय बाहू, वैश्य उरु तथा शूद्र परमेश्वर के पाद से उत्पन्न हुआ । मन्वादि स्मृतियाँ स्पष्ट ही मुख, बाहू, उरु तथा पाद से उत्पत्ति बतलाकर उत्पत्ति वाले पक्ष को पुष्ट कर देती है ।

“लोकानां तु विवृद्धयर्थ मुखबाहूरुपादतः ।

ब्राह्मणं क्षत्रियं वैश्यं शूद्रञ्च निरवर्त्तयत् ।।” (मनु. १/३१)

परमेश्वर ने लोक की वृद्धि के लिये मुख, बाहू, उरु तथा पाद से ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र को निर्मित किया ।

“मुखबाहूरुपज्जानां या लोके जाते वहिः ।

म्लेच्छवाचश्चार्य्यवाचः सर्वे ते दस्यवः स्मृताः ।।” (१०/३५)

मुख, बाहू, उरु तथा पाद से पैदा होने वाले ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्रों से भिन्न आर्यभाषा या म्लेच्छभाषा बोलने वाली बाह्य जातियाँ उत्पन्न हुईं, वे सब दस्यु कहे जाते हैं । ठीक इसी तरह प्रकृत में भी दिशाओं का अन्त क्या है ? तथा दिगन्त एवं दिगन्तवासी कौन है ? सभी देशों में श्रौतविज्ञानवान् जन से भिन्न तद्विपरीत जन एवं तन्निवास स्थान दिगन्त है, या श्रौत-स्मार्त्त ज्ञानकर्म-संस्कार संस्कृत अन्तःकरण वाले वैदिक आर्यों एवं उनके निवास स्थान भूत भारत से भिन्न द्वीपान्तर ही दिशाओं का अन्त है । यद्यपि अन्तिम पक्ष ही सिद्धांत है- यह अत्यन्त स्पष्ट है फिर भी मनु ने और भी स्पष्ट कर दिया- “म्लेच्छदेशस्त्वतः परः ।” यज्ञिय भारतवर्ष से भिन्न प्रत्यन्त ही म्लेच्छ देश है, वही दिगन्त है ।

मनु ने पहले सरस्वती एवं दृष्द्वती नदियों के मध्यदेश को देवनिर्मित “ब्रह्मावर्त” बतलाया है । उस देश के पारम्पर्य से आगत संकीर्ण जाति पर्यन्त ब्राह्मणादि वर्णों के आचार को ही सदाचार कहा है ।

“सरस्वतीदृषद्वत्योर्देवनद्योर्यदन्तरम् ।

तं देवनिर्मित देशं ब्रह्मावर्त प्रचक्षते ।।

तस्मिन्देशे य आचारः पारम्पर्यक्रमागतः ।

वर्णानां सान्तरालानां स सदाचार उच्यते ।।” (मनु २/१७-१८)

विदेशयात्रासमर्थन के पक्ष में सम्भवतः मनु की इन बातों को भी कूपमण्डूकता या संकीर्णता समझा जायेगा । अस्तु -

मनुजी ने कुरुक्षेत्र, मत्स्य, पाञ्चाल और सूरसेन देश को ब्रह्मर्षि देश माना है ।

"कुरुक्षेत्रं च मत्स्याश्च पञ्चाला शूरसेनकाः ।

एष ब्रह्मर्षिदेशो वै ब्रह्मावर्त्तादनन्तरः ।।" (२/२६ मनुः)

इस देश के प्रसूत अग्रजन्माओं से संसार के सब मानव अपना-अपना चरित्र सीखें।

"एतद्देशप्रसूतस्य सकाशादग्रजन्मनः ।

स्वं स्व चरित्रं शिक्षरेन् पृथिव्यां सर्वमानवाः ।।" (२।२० मनुः)

क्या इसे भी प्रान्तीयता ही माना जाय ? मनु के अनुसार कुरुक्षेत्र से प्रयाग तक तथा हिमाचल और विन्ध्य की भूमि मध्यदेश है -

"हिमवद्विन्ध्ययोर्मध्यं यत्प्राग् विनशनादपि ।

प्रत्यगेव प्रयागाच्च मध्यदेशः प्रकीर्तितः।।" (२।२१)

पूर्व समुद्र से पश्चिम समुद्र तक तथा हिमाचल एवं विन्ध्याचल के मध्य की सारी भूमि आर्यावर्त्त्त है । दक्षिण समुद्र तक के समीप तक विन्ध्याचल का विस्तार है-

"आसमुद्रात्तु वै पूर्वादासमुद्राच्च पश्चिमात् ।

तयोरेबान्तरं गिर्य्योराय्य्यावर्त्तं बिदुर्वुधाः ।।" (२।२३)

उन्हीं मनु के अनुसार कृष्णासागर मृग जहाँ स्वभाव से विहरण करता है वही यज्ञिय देश है । उससे भिन्न देश म्लेच्छ देश है -

"कृष्णसारस्तु चरति मृगो यत्र स्वभावतः ।

सज्ञेयो यज्ञियो देशो म्लेच्छदेशस्त्वतः परः ।।" (२।२३)

ऐसा देश भारतवर्ष ही है, अतः वही यज्ञिय देश है । वहीं वर्णाश्रमवती प्रजा रहती है । वही कर्मभूमि है । यही विष्णुपुराण तथा श्रीमद्भागवत में कहा गया है -

क्या यह "**वसुधैव कुटुम्बकम्**" के आदर्श का उल्लंघन है? संकीर्णता, कूपमण्डूकता या प्रान्तीयता है ?

इसके बाद ही मनु कहते हैं कि- द्विजाति लोग प्रयत्न करके इन्हीं देशों का आश्रयण करें, म्लेच्छ देशों से बचें । वृत्तिकर्षित शूद्र भले हीं जहाँ कहीं निवास कर ले । मनु के इन सब कथनों का मूल तो पूर्वोक्त श्रुति है -

“सा वा एषा देवतैतासां देवतानां पाप्मानं मृत्युमहृत्य यत्राम् दिशामन्तस्तद्गमयाञ्चकार तदासां पाप्मनो विन्यदधात्तस्मान्न जनमियान्नान्त मियान्नेत्पाप्मानं मृत्युमन्वयायानि ।”

अन्य टीकाकारों ने भी इस श्रुति का पूर्वोक्त ही अर्थ किया है, इसीलिए हिन्दी नवल किशोर प्रेस से प्रकाशित सटीक वृहदारण्यकोपनिषद् (सन् १९१८ ई. प्रकाशित) में उक्त श्रुति का यही अर्थ लिखा है –

“हे सौम्य ! वह प्राण देवता इन्द्र वागादि इन्द्रयों के पापरूप मृत्यु को पकड़ कर वहाँ ले गया जहाँ इन दिशाओं का अन्त होता है । यानी जहाँ भारतवर्ष का अन्त है वहाँ ही इन देवताओं के पारों को छोड़ दिया है । इसलिए वहाँ के लोगों के पास कोई न जावे और उस दिशा के अन्त को यानी भारतवर्ष के बाहर न जावे । ऐसा डरता रहे कि अगर मैं भारतवर्ष के बाहर गया तो पापरूप मृत्यु को प्राप्त होऊँगा ।” (१।२।१०)

श्रीमन्मध्वभाष्य में कहा गया है कि– ‘‘विमुच्य (विमोच्य) पापसंघात दिशामन्तेष्वथाक्षिपत्’’ –

अर्थात् प्राणदेवता ने वागादि देवता के पाप संघात को छुड़ाकर दिशाओं के अन्त में छोड़ दिया । (वृहदारण्य भावबोध प्रारम्भः २२ पृष्ठ)

इतना ही नहीं विशिष्टाद्वैतानुसारिणी श्रीरंग रामानुज विरचित प्रकाशिका टीका में तो अत्यन्त स्पष्ट शब्दों में म्लेच्छ देशों को ही दिशाओं का अन्त कहा है ।

‘‘सा वा एषा देवतैतासां मृत्युशब्दितं पाप्मानमपहत्य वागादि देवताभ्य आच्छिद्य यत्रासां दिशामन्तो दिगन्तप्रदेशस्तद्गमयाञ्चकार दूर्नामत्वाद्द मृत्युं निनाय, । आसां वागादि देवतानां पाप्मानः पापानि विन्यदवाद्विशिष्य निधानं कृतवती । यस्मात्कारणात्प्रत्यन्तदेशानां वागादिदेवताविनिर्मुक्ताऽनुतादिलक्षणपापनिधानाश्रयतया म्लेच्छदेशत्वं अतएव तत्र जनं जननम् उत्पत्ति अन्तं मरणं च नेयात् न प्राप्नुयात् तत्र देशे उत्पत्तिमरणे अशोभने इति यावत् ।’’

अर्थात् प्राण देवता ने वागादि देवताओं से मृत्यु शब्दित पाप्मा को छीनकर दिशाओं के अन्त दिगन्त में पहुँचा दिया । दूर नाम होने के कारण प्राण ने मृत्यु को दूर कर दिया । जिस कारण से प्रत्यन्त (द्वीपान्तर) देश वागादि देवताओं से निर्मुक्त अनृतादिलक्षण पापों के निधान के आश्रय होने से म्लेच्छ देश है, अतः वहाँ जन अर्थात् जनन, अन्त अर्थात् मरण को न प्राप्त हों ।

यहां 'जन' का अर्थ जनन 'अन्त' का अर्थ मरण यह अर्थ पूर्वोक्त अर्थों से भिन्न होने पर भी दिशाओं का अन्त या दिगन्त प्रत्यन्त म्लेच्छ देशों को ही माना गया है । जैसे कि शाङ्करभाष्य में माना गया है । हर प्रान्त तथा हर देश में दिगन्त नहीं माना गया । (१।३।२६)

अतएव श्रीअण्णङ्गराचार्य का कहना है कि द्वीपान्तरप्रयाण सर्वथा निषिद्ध है। वर्तमान शृङ्गेरी के शङ्कराचार्य, ज्योतिष्पीठ के शङ्कराचार्य स्वामी श्रीकृष्णबोधाश्रमजी, द्वारकापीठ के शङ्कराचार्य तथा पुरी पीठ के शंकराचार्य स्वामी श्रीनिरञ्जनदेव तीर्थ और काञ्ची कामकोटि पीठ के शङ्कराचार्य भी प्रत्यन्त देशों को ही दिगन्त मानते हैं।

''कृष्णसारस्तु चरति'' इस वचन विशेष से ब्रह्मावर्त्तादि भारतवर्ष को यज्ञिय देश एवं तद्भिन्न देश को म्लेच्छ देश बताकर अन्य देश-निवास को पतन का भी हेतु कहा गया है । मनु के अनुसार कृष्णसार मृग जहाँ स्वभाव से चरता (विहार करता) हो, उपायनादि द्वारा प्राप्त तथा बलात् बन्दी बनाकर नहीं रखा गया हो, वही देश यज्ञिय देश है । कृष्णसार मृग चरणवाले भारतवर्ष से भिन्न देश म्लेच्छ देश है, अर्थात् वर्णाश्रमाचारशून्य म्लेच्छों का देश है ।

मेधातिथि के पक्ष पर विचार

मेधातिथि कहते है कि ''समे यजेत'' - 'समस्थल में यज्ञ करें', इत्यादि के समान ''कृष्णसारो मृगो यत्र'' इस वचन से कृष्णसारमृगचरणविशिष्ट भूमि को याग का अधिकरण नहीं बताया गया है, क्योंकि 'चरति' यह वर्तमान निर्देश है । जहाँ कृष्णसार मृग चरता हो उसी अधिकरण में तो उसी समय यज्ञ हो ही नहीं सकता क्योंकि कर्त्रादिकारादि द्रव्यों को ही धारण करके देश यज्ञ का अधिकरण हो सकता है, किन्तु दो मूर्त द्रव्य एक ही काल में एक देश में नहीं रह सकते । कालान्तर में लक्षणा करके उपपत्ति नहीं की जा सकती, क्योंकि विधि में लक्षणा मीमांसाविरुद्ध है। ''न विधौ परः शब्दः ।'' यद्यपि यह कहा जा सकता है कि जैसे तेल से तिल व्याप्त होता है, वैसे ही व्यापक आधेय से ही अधिकरण होने का नियम नहीं होता, क्योंकि "प्रासादे आस्ते" "रथ अधितिष्ठति" - प्रासाद में है 'रथ में अधिष्ठित है' - इत्यादि स्थलों में एक देश में आधेय का सम्बन्ध होने पर भी सम्पूर्ण प्रासाद और रथ में अधिकरण का व्यवहार होता है । इसी प्रकार नदी पर्वतावधि, ग्राम नगर समुदाय रूप देश ही यहाँ प्रकृत है। अतः पर्वत अरण्यादि किसी एक देश में कृष्ण मृग के चरते रहने पर भी सारे देश को उसका अधिकरण कहा जा सकता है । इसलिए याग एवं कृष्णसार मृग का चरण

एक देश में ही हो यह आवश्यक नहीं है । परन्तु मेधातिथि इसे मानते हुए भी कहते है कि ''अत्र यष्टव्यम्'' (कृष्णसार-मृग-चरण-देश में यज्ञ करना चाहिए) इस प्रकार की यहाँ कोई विधि नहीं है । यहाँ 'ज्ञेयः' में विधिप्रत्यय 'ज्ञा' धातु से ही सम्बन्धित है । 'यजि' से विधि प्रत्यय का सम्बन्ध नहीं है । कृष्णमृगसंचरणविशिष्ट देश में यागार्हता ही श्रुत है । देश में यागार्हता तो विधि के बिना भी संगत हो जाती है, क्योंकि इन देशों में याग के अङ्गभूत दर्भ, पलाश, खदिर आदि प्रायेण होते है । इसलिए इनकी यागार्हता उपपन्न ही है । वैदिक याग के अधिकारी त्रैवर्णिक भी इन देशों में होते हैं । इसलिए भी इनकी यागार्हता उपपन्न है । अतः एतन्मूलक सिद्ध यागार्हता का प्रकृत मनुष्यलोक में अनुवाद मात्र है । 'ज्ञेयः' इस पद में विध्यर्थक कृत्य प्रत्यय होने पर भी वह विधायक नहीं है, किन्तु उसमें विध्यर्थता का आरोप मात्र होने से ''जतिलयवाग्वा जुहुयात्'' के समान वह अर्थवाद मात्र है । उक्त वाक्य में 'जुहुयात्' देखकर आपाततः विधि की प्रतीति होने पर भी जैसे वह विधि नहीं किन्तु वह ''अजाक्षीरेण जुहुयात्'' इस विधि का अर्थवाद मात्र है वैसे ही प्रकृत में भी समझना चाहिए । ''म्लेच्छदेशस्त्वतः परः'' यह भी प्रायिक अनुवाद है । प्रायः भारत से अन्यत्र म्लेच्छ रहते हैं । यहाँ यह नहीं समझना चाहिए कि उक्त देशों के सम्बन्ध से म्लेच्छता होती है, क्योंकि ब्राह्मणादि जाति के समान म्लेच्छ जाति भी प्रसिद्ध ही है । यदि 'म्लेच्छानां देशः म्लेच्छदेशः' इस प्रकार अर्थ के द्वारा उन देशों में 'म्लेच्छ देश' इस शब्द की प्रवृत्ति है, तब तो यदि कदाचित् ब्रह्मावर्त्तादिदेशों में भी म्लेच्छ लोग आक्रमण करके वहां रहने लग जायें तब ब्रह्मावर्त्तादि देश भी म्लेच्छ देश हो जायेंगे । इसी तरह यदि कोई क्षत्रियादि राजा साध्वाचार रहते हुए म्लेच्छों पर आक्रमण करके उनको पराजित कर वहाँ चारों वर्णों को बसा देगा तथा म्लेच्छों को आर्यावर्त्त के समान ही चाण्डाल घोषित कर देगा तब तो वह भी देश यज्ञिय हो जायेगा, क्योंकि भूमि स्वतः दुष्ट नहीं होती । संसर्ग से वह दुष्ट होती है । जैसे भूमि अमेध्य शवादि संसर्ग से दुष्ट होती है वैसे म्लेच्छसंसर्ग से भी । अतः आर्यावर्त्त आदि देशों से भिन्न देश भी यज्ञसामग्री सम्पन्न होने पर कृष्णसारमृग चरण न होने पर भी यज्ञिय हो सकते हैं । त्रैवर्णिकों को वहाँ भी यज्ञ करना ही चाहिए । इसलिए ''स ज्ञेयो यज्ञियों देशः'' यह अनुवाद मात्र है । यह अनुवाद ''एतान् द्विजातयः'' इस उत्तर विधि का शेष है - यही मेधातिथि के पक्ष का सार है ।

उक्त बातें यद्यपि आपाततः रमणीय प्रतीत होती है, परन्तु वस्तुतः असंगत और अशुद्ध हैं । ''कृष्णसारों मृगो यत्र'' इत्यादि वाक्य से ब्रह्मावर्त्तादि भारतवर्ष पृष्ठ में याग की अधिकरणता के विधान में कोई दोष नहीं है । अन्यथा तो 'समे यजेत' को भी कोई अनुवाद कह ही सकता है, क्योंकि प्रामाणिक परिमाण वाले कुण्ड मण्डप

वेदि आदि भी समदेश में भी संभव होते हैं । फिर भी जैसे समदेश में यागाधिकरणता की नियम विधि मान्य है वैसे ही कृष्णसारचरणविशिष्ट देश में भी यज्ञाधिकरणता की नियमविधि मान्य है ।

प्राप्त होने से ही यहाँ अपूर्वविधि न मानकर नियमविधि मानी जाती है । यदि कोई समदेश में ही यज्ञ करता है तब विधि उदासीन रहती है, यदि सम में नहीं करता तब ही यह विधि सार्थक होती है । वैसे ही प्रकृत में भी समझना चाहिए । नियमविधि के अनुसार अदृष्ट विशेष की उत्पत्ति नियमपालन का फल है, इतर निवृत्ति आर्थिक होती है । इसीलिए विष्णुपुराण एवं श्रीभागवत आदि पुराणों में भारतवर्ष को ही कर्मभूमि या कर्मक्षेत्र माना गया है । 'चरति' के वर्तमानापदेश को विशेषण न मानकर उपलक्षण ही मानना उचित है । तथाच स्वाभाविक कृष्णमृगचरण क्रिया से उपलक्षित देश ही याग का अधिकरण देश है, ऐसा अर्थ करने में कोई भी दोष नहीं है । जैसे एक देश सम्बन्धी देवदत्तादि आधेय से भी प्रासाद रथ आदि आधार बन जाते हैं उसी तरह एक देशसम्बन्धी मृगचरण से भी सम्पूर्ण भारतवर्ष मृगचरण का आधार तथा याग का आधार हो सकता है । ऐसी स्थिति में दो मूर्त्त द्रव्यों की एक स्थान तथा एक काल में अधिकरणता नहीं हो सकती, यह कहना भी निरर्थक ही हैय क्योंकि अप्रमाणिक लक्षण ही विधि में वर्जित है, प्रमाणिक नहीं । अतएव ''कृष्णलान् श्रपयेत्'' इस विधि से सुवर्ण खण्ड रूप कृष्णलों में रूपरस-विपरिवृत्ति रूप श्रपण (पाक) असम्भव होने से श्रपण की उष्णीकरण में लक्षणा मान्य है । ऐसे ही एक देश, काल में दो मूर्त पदार्थ की अधिकरणता अनुपपन्न होने पर कालान्तर में लक्षणा होने में भी अनुपपत्ति नहीं है ।

इसी तरह जैसे 'आग्नेयो अष्टाकपालो भवति' यहाँ विधि प्रत्यय न होने पर भी अपूर्व द्रव्य एवं देवतादर्शन से ही विधि मान्य होती है, पावन स्नानार्ह तीर्थ ज्ञान से स्नान विधि मान्य होती है, अपूर्व साध्य-साधन देखकर रात्रिसत्र विधि की कल्पना होती है, उसी तरह देश की यागार्हता के ज्ञान से यागाधिकरणता की विधि भी हो सकती है । कृष्णसारमृगचरणाधिकरण भूमि में यज्ञियत्व उक्त मनु वचन से ही विदित होता है, अतः अपूर्वता भी है ही । अतएव यह भी कहना उचित नहीं है कि यागाङ्ग दर्भ पलाशादि होने से स्वतः सिद्ध यागार्हता का भी अनुवाद ही है, क्योंकि यह पूर्व पक्ष के ही उस कथन के विरुद्ध है कि ''मृगचरणाधिकरण देश से भिन्न देश में भी यज्ञित्व हो सकता है, अतः सामग्री होने पर द्विजातियों को वहाँ भी यज्ञ करना चाहिए।''

''सर्वं वाक्यं सावधारणं भवति'' इस न्याय से उक्त वाक्य का 'कृष्ण-मृगचरणाधिकरणदेश एव यज्ञियो भवति' अर्थात् 'कृष्णमृगचरण का अधिकरणभूत

देश ही यज्ञिय है’- यही अर्थ है । तथा च यज्ञिय भूमि में ही यज्ञ होना चाहिये, अतः वही यागाधिकरणभूतदेश है । अतएव श्रुति ने ‘न जनमियात्’ और ‘नान्तमियात्’ इन दो निषेधों से अन्त्य जनों एवं अन्त्य देशों दोनों का ही संसर्ग निषिद्ध किया है । भाष्यकार ने देशवियुक्त जन एवं जनशून्य देश को भी पाप्मा का आश्रय कहकर दोनों का संसर्ग निषिद्ध किया है । पुराणों ने भारत भूमि को ही कर्मक्षेत्र या कर्मभूमि कहा है ।

जैसे गुणहीन, अधम या मृत होने पर भी गौ, सिंह आदि जातियाँ नित्य होने से यावज्जीवन व्यक्ति में रहती ही है, जैसे मृत ब्राह्मणशरीर को भी ब्राह्मण ही कहते है अथवा जैसे म्लेच्छाक्रान्त होने पर भी काशी आदि मुक्ति क्षेत्रों की मुक्तिक्षेत्रता बनी ही रहती है, उसी तरह म्लेच्छों के आक्रमण एवं म्लेच्छभूयिष्ठ हो जाने पर भी भारतवर्ष कर्मक्षेत्र, कर्मभूमि या यज्ञियभूमि ही रहेगा । गंगादि जलों के समान काशी आदि भूमियों की पवित्रता का उत्कर्ष शास्त्र सिद्ध ही है । जैसे कर्मनाशा आदि जलों की स्वाभाविक पुण्यनाशकता हैं ठीक उसी तरह भारत से भिन्न देश दिगन्त पाप्मा का आश्रय होने से स्वभाव से ही अशुद्ध हैं । जैसे कोई जल स्वभाव से पवित्र होता है वैसे कोई स्वभाव से अपवित्र होता है । गोमूत्र की शुद्धि एवं नरमूत्र की अशुद्धि स्वाभाविक ही है । काशी आदि की स्वाभाविक शुद्धि के समान ही किन्हीं देशों की अशुद्धि ही स्वाभाविक होती ही है । अतएव म्लेच्छजनशून्य होने पर भी प्रत्यन्त देश का गमन निषिद्ध है -

“यत्रासां दिशामन्तस्तद्गमयाञ्चकार नान्तमियात्”

आजकल समानता का भी एक रोग लग गया है । जहाँ देखिये वहाँ समानता की बात उठायी जाती है, परन्तु **“निर्दोषं हि समं ब्रह्म”** (गीता) के अनुसार निर्दोष ब्रह्म ही एकमात्र सम है तद्भिन्न सभी वस्तु की विषमता ही स्वाभाविक है । प्रकृति में जब सत्व, रज, तम- तीनों ही गुणों का समान परिणाम होता है । तब प्रलय की ही अवस्था रहती है । गुणों का विषम परिणाम होने पर ही महदादि क्रम से विश्व की सृष्टि होती है । सत्व, रज, तम तीनों गुण भी प्रकाश, चलन एवं प्रावरण-स्वभाव के हैं । फलतः सम्पूर्ण सृष्टि में विषमता ही का साम्राज्य है । पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाश तथा उनसे उत्पन्न आध्यात्मिक, आधिभौतिक, आधिदैविक सभी वस्तुएँ भी विषम हैं । पृथ्वी में पाषाण, हीरक, पन्ना, पुखराज, नीलम आदि विविध रत्न समान नहीं है तथा सब देशों में सब रत्न नहीं मिलते हैं । केशर काश्मीर आदि कतिचित् स्थलों में ही उत्पन्न होती है । सोना, लोहा, चाँदी आदि की भी खाने सब जगह नहीं हैं, पेट्रोल भी कहीं उपलब्ध होता है, कहीं पर नहीं । किं बहुना संसार के कण कण

में विषमता, विलक्षणत, विचित्रता स्वाभाविक है । इसी तरह पवित्रता-अपवित्रता का भी तारतम्य सर्वत्र है । मूत्र-मूत्र में समान मूत्रता होने पर भी गोमूत्र एवं इतर मूत्र में पवित्रता-अपवित्रता का भेद है । शङ्ख की अस्थि पवित्र और मनुष्य की अस्थि अपवित्र है । व्याघ्रचर्म पवित्र, गर्दभचर्म अपवित्र है । काक गृध्रादि अशुद्ध, गो अश्व आदि पवित्र हैं । गाय का ही मुख अशुद्ध और पुच्छ पवित्र है । गङ्गादि पाप नष्ट करता है, कर्मनाशाजल पुण्यनाशक है । काशी, काञ्ची आदि पुरियाँ मोक्षदायिका हैं । काशी में भी काशी, वाराणसी, अनर्तगृही एवं विश्वेशभवन में भी पवित्रता का तारतम्य है । अतएव क्रमेण ये सालोक्य, सामीप्य, सारूप्य, सायुज्यप्रद हैं ।

इस प्रकार सभी भूमि या सभी जल या सभी तीर्थ समान हैं, यह नहीं कहा जा सकता । कोई अशुद्धियाँ अशुद्ध संसर्ग जनित होती हैं, कोई स्वाभाविक होती हैं। काक, गृद्ध आदि की अशुद्धता स्वाभाविक ही है । इसी प्रकार भारतवर्ष एवं इतर देशों की पवित्रता-अपवित्रता में महान् भेद है । भारत में भी अवान्तर अनेक प्रभेद हो सकते हैं, परन्तु इस विविध विचित्र विषम विनश्वर विश्व में एक अविनश्वर अनन्त, अखण्ड, सम ब्रह्म का दर्शन करना ही समन्वय का आधार है ।

''समं सर्वेषु भूतेषु तिष्ठन्तं परमेश्वरम् ।

विनश्यत्स्वविनश्यन्तं यः पश्यति स पश्यति ।।''

विद्याविनयसम्पन्न ब्राह्मण, गो, हस्ती, श्वान श्वपाक सब समान नहीं हैं, परन्तु सब में रहने वाला ब्रह्म समान है ।

"विद्याविनयसम्पन्ने ब्राह्मणे गवि हस्तिनि ।

शुनि चैव श्वपाके च पण्डिताः समदर्शिनः ।।"

व्यवहार में गो, हस्ती, श्वान तथा ब्राह्मण और श्वपाक समान नहीं हैं ।

अतएव 'एतान् द्विजातयो देशान्' इस श्लोक के अनुसार ब्रह्मावर्त्तादि देशों में निवास की विधि हैं । अन्य देशों में निवास का अधिकार होने पर भी प्रयत्न करके इन देशों में ही निवास करना चाहिए । अथवा जैसे गङ्गादि तीर्थस्थान का विधान होता है, उसी से उनकी पावनता की कल्पना होती है । कूप, सरोवर, नदी, नर्मदा, यमुना, सरस्वती, गङ्गादि में पवित्रता का तारतम्य भी होता है, वैसे ही - ''एतान् द्विजातयो'' इस मनुवचन से ब्रह्मावर्त्तादि विशिष्ट भारतवर्ष में निवास का विधान होने से भूमि में भी पवित्रता का तारतम्य मान्य होता है । इस तरह संश्रयणविधान के बल से ब्रह्मावर्त्तादि देशों की विशेष पवित्रता विदित होती है ।

जैसे विश्वजित् याग से "स हि स्वर्गः स्यात् सर्वान् प्रत्यविशिष्टत्वात्" (जै. सूत्र) के अनुसार स्वर्ग रूप फल की कल्पना होती है, वैसे ही ब्रह्मावर्त्तादि देशों के आश्रयण से ही स्वर्ग रूप फल प्राप्त होता है, यह कल्पना भी की जा सकती है । परन्तु मेधातिथि कहते हैं कि यदि अप्राप्तसमाश्रयण का विधान हो तभी यह कहा जा सकता है । पर ब्रह्मावर्त्तादि देशों में तो निवास प्राप्त ही है, क्योंकि अन्य देशों में सब धर्मों का अनुष्ठान संभव ही नहीं । हिमवान् एवं काश्मीर आदि देशों में शीत से अर्दित लोगों का बाहर सन्ध्योपासनादि संभव नहीं है । वहाँ स्वाध्याय भी संभव नहीं है । क्योंकि – "प्राग्वोदग्वा ग्रामादुपनिष्क्रम्य" के अनुसार ग्राम से बाहर पूर्व या उत्तर दिशा में जाकर स्वाध्याय करने का विधान है, उन देशों में संभव नहीं है । हेमन्त तथा शिशिर ऋतु में प्रतिदिन नदी स्नान भी संभव नहीं है। इसमें ही 'द्विजातयः' यह लिङ्ग है । अर्थात् द्विजातियों के योग्य ब्रह्मावर्त्तादि देश है ।

कोई भी देश म्लेच्छ सम्बन्ध बिना स्वतः म्लेच्छ देश नहीं होता । यदि उन देशों के सम्बन्ध से म्लेच्छत्व हो तब तो उन देशों के सम्बन्ध से द्विजातित्व ही न रह जायेगा । यदि कहें कि गमन मात्र से म्लेच्छता नहीं होती, किन्तु वहां निवास से म्लेच्छता होती है और वह निवास ही प्रतिषिद्ध है, यह तो ठीक नहीं, क्योंकि इस वचन से संश्रय ही उक्त है और वह अन्य देश निवासी का ही अन्य देश त्याग कर एतद्देशसम्बन्ध से ही हो सकता है । संश्रित का ही संश्रयण नहीं हो सकता । जो पहले से ही ब्रह्मावर्त्तादि देशों में रहता है उसका संश्रयण क्या होगा ?

अन्यथा 'एतान् देशान् त्यक्त्वा नान्यत्र, निवेसत्' – इन देशों को त्यागकर अन्यत्र निवास न करे, ऐसा ही कहना उचित था । यदि कहा जाय कि संश्रयण तो सिद्ध ही है, पुनः संश्रयण वधान अन्यनिवृत्ति रूप परिसंख्या के लिये है, तो यह भी ठीक नहीं, क्यों कि परिसंख्या होने से मुख्यार्थत्याग, अन्यार्थग्रहण और प्राप्तबाध आदि दोष होते हैं ।

'इन देशों को त्यागकर अन्यत्र न बसे' यह लाक्षणिक अर्थ ठीक नहीं है, क्योंकि श्रुतार्थ सम्भव होने पर लाक्षणिक अर्थ युक्त नहीं होता । श्रुत अर्थ का त्याग अश्रुत अर्थ की कल्पना योग्य नहीं । यह भी नहीं कहा जा सकता कि उन देशों के सम्बन्ध से म्लेच्छता आ जाने पर भी द्विजत्व का व्यवहार भूतपूर्व गति का आश्रयण करने से होता है । क्योंकि म्लेच्छ जाति तो सिद्ध ही है वह देश-सन्बन्ध से नहीं होती, परन्तु मेधातिथि का यह कथन भी संगतिपूर्ण नहीं है, क्योंकि 'संश्रयेरन्' यह प्रत्यक्ष विधान है । द्विजाति पद तो विशेष प्रयत्नाधिकार सूचनार्थ है । अर्थात् द्विजाति को विशेष प्रयत्न करके देशान्तर निवास त्याग कर यहाँ ही निवास करना चाहिए । अन्य

देशों में भी सन्ध्या, स्वाध्याय आदि सम्भव होते ही हैं । विशेष वर्षा, वात, आतप आदि में ब्रह्मावर्त्तादि देशों में भी वहिर्गमन असंभव ही होता है ।

'भारत के देश ही कर्मभूमि हैं, अन्य देश कर्मभूमि नहीं हैय अतः यहाँ सन्ध्या, स्वाध्याय आदि नहीं हो सकेंगे ।' यह तो ''नान्त्यमियात्'' ''एतान् द्विजातयो देशान्'' इत्यादि वचनों के आधार पर सिद्ध होता है । इस पक्ष को स्वीकार कर लेने पर तो उक्त शास्त्रार्थ का प्रयोजन ही नहीं रह जाता । गङ्गादि स्नान के समान ही काश्यादि तीर्थों निवास भी विहित है ही । सप्तपुरियों में मरने से मुक्ति का उल्लेख मिलता है । काशी-मरण से मोक्ष होता है, मगह में मरने से असद्गति होती है, यह भी पुराणों तथा लोक में प्रसिद्ध ही है, अतः जलों के समान ही भूमि की पवित्रता में भी तारतम्य है ही ।

ब्राह्मणत्व द्विजत्वादि तो जन्मकृत होने से यावज्जीवन गवाश्वादि जातिवत् देशान्तरों में भी बना ही रह सकता है तथापि निषेधातिक्रमण के कारण पतित या अधम द्विजादि कहे जा सकते हैं । यदि 'संश्रेयरन्' को विधि न माना जायगा तो पूर्वोक्त अर्थवाद उत्तरविधि का शेष है- मेधातिथि का यह कथन सुतरां बाधित होगा । अतएव कुल्लूक भट्ट के अनुसार- 'जहाँ कृष्णसार मृग स्वभाव से चरता है वही यज्ञिय देश है । अन्य म्लेच्छ देश यज्ञार्ह नहीं है ।' सर्वज्ञनारायण के अनुसार- 'आर्यावर्त्त के बाहर भी भारतवर्ष यागार्ह देश है । भारत से भिन्न देश यज्ञानुष्ठानानर्ह म्लेच्छों का देश है ।' राघवानन्द के अनुसार- 'जैसे दर्शादिकाल यज्ञ का अङ्ग है वैसे ही कृष्णसारमृग वाला देश भी यज्ञ का अङ्ग है ।' नन्दन के अनुसार- 'ब्रह्मावर्त्तादिसे अन्य देश यज्ञानधिकृत म्लेच्छों का देश है ।' रामचन्द्र के अनुसार- 'जहाँ कृष्णसार मृग स्वच्छन्दता से चरता है वही यज्ञ-योग्य देश है, अन्य म्लेच्छ देश है ।' इस तरह अन्य टीकाकार भी भारत से भिन्न देश को म्लेच्छ देश और यज्ञ के अयोग्य देश मानते हैं । कुल्लूक भट्ट ने अनेक स्थलों में मेधातिथि का खण्डन किया है ।

कहा जाता है कि भूमि स्वभावतः अशुद्ध नहीं होती, किन्तु -

''प्रसूते गर्भिणी यत्र यत्र विन्यस्यते शवः ।

म्लेच्छैरघ्युषितं यत्र यत्र विष्ठादिसंगतिः ।।

एवं कश्मलभूयिष्ठभूरमेध्येति कीर्तिता ।'' (प्रबन्धग्रन्थोद्धृत)

"शुच्यप्यशुचि संसृष्टं द्रव्यं दूषितमुच्यते ।

मानुषास्थि-वसा-विष्ठा-रेतो-मूत्रार्तवानि च ।।

कुणपं पूयमित्येतत् कश्मलं चाप्युदाहृतम् ।।

स्वेदाश्रुविन्दवः फेननिरस्तनखलोम च ।

आद्रचमष्टिमित्येतद् दुष्टमाहुर्द्विजातयः ।।" (पराशरमाधवीय ११/१)

के अनुसार शुद्ध भूमि भी निम्नोक्त वस्तुओं के संसर्ग से दूषित हो जाती है- जहाँ गर्भिणी ने प्रसव किया हो, जहाँ शव का विन्यास किया गया हो, जहाँ म्लेच्छों ने निवास किया हो, जहाँ विष्ठादि की संगति तथा जहाँ अन्य कश्मलों का बाहुल्य हो, वह भूमि अमेध्य होती है । मनुष्य की हड्डी तथा वसा, विष्ठा, रेत, मूत्र, तथा आतंव (रज), मुर्दा पीप, स्वेद, अश्रुबिन्दु, मूत्र तथा त्यागे हुए नख-लोम- यह सब कश्मल है । इनके योग से भूमि अशुद्ध होती है । उपर्युक्त अशुद्ध भूमि का निम्नोक्त दश संस्कारों से शुद्धि होती है -

"भूशुद्धिर्मार्जनाद्दाहात् कालाद् गोक्रमणात्तया ।

सेकादुल्लेखनाल्लेपाद् गृहं मार्जनलेपात् ।।" (याज्ञवल्क्यस्मृति १।१८८)

"खननात् पूरणाद्दाहादभिवर्षेण लेपनात् ।

गो भराक्रमणात्कालाद् भूमिः शुद्ध यति सप्तधा ।।" (पराशरमाधवीये २५)

अर्थात् याज्ञवल्क्य के अनुसार मार्जन, दहन, कालातिक्रमण, गोक्रमण, सेचन, उल्लेखन एवं लेपन से भूमि शुद्ध होती है, तथा घर मार्जन एवं लेपन से शुद्ध होता है । पराशरमाधव के अनुसार- खनन, पूरण, दहन, अभिवर्षण, लेपन, गोक्रमण तथा कुछ काल बीतने पर भूमि शुद्ध होती है । तथा इन्हीं संस्कारों से प्रत्यन्त (म्लेच्छ देशों) की भूमि शुद्ध हो सकती है । फिर वहाँ पर सन्ध्यादि कर्म करने में कोई दोष नहीं है।

पर यह कहना ठीक नहीं है, क्योंकि उक्त संस्कारों से आगन्तुक कृत्रिम अशुद्धि ही दूर होती है । जैसे शुद्ध ब्राह्मणादि शरीर ही मिट्टी, जल तथा गङ्गास्नानादि से शुद्ध होते हैं, श्वान, सूकर, काक, गृध्रादि देह मिट्टी जल स्नानादि से भी स्पृश्य नहीं होते हैं, वैसे ही शुद्ध भूमि ही यदि म्लेच्छादि निवास तथा प्रसव, शव आर्तवादि से अशुद्ध हुई हो, तो वह मार्जनादि संस्कारों से शुद्ध हो सकती है । स्वभावतः अशुद्ध प्रत्यन्त (म्लेच्छ देश) भूमि उक्त संस्कारों से शुद्ध नहीं होती । जहाँ कृष्णसागर मृग स्वभाव से विचरता है, वह यज्ञिय भूमि स्वभाव से शुद्ध है । तद्भिन्न प्रत्यन्त भूमि

स्वभावतः अशुद्ध है । ‘‘म्लेच्छदेशस्त्वतः परा ।’’ मनुः ।। अतएव ‘‘न जनमियान्नन्त्य-मियात्’’ इन दो निषेधों का तात्पर्य वर्णन करते हुए भाष्यकार श्रीशङ्कराचार्य ने जनशून्य देश एवं देशवियुक्त म्लेच्छ जन दोनों का संसर्ग निषिद्ध बतलाया है, अतः म्लेच्छ से वियुक्त प्रत्यन्त भूमि भी पाप्मा का आश्रय होने से संसर्ग योग्य नहीं है । शवादि-संसर्ग दृष्ट अशुद्धि है, परन्तु पाप्मा अदृष्ट है, अतः तज्जन्य अशुद्धि भी अदृष्ट अतएव सूक्ष्म है ।

यद्यपि गङ्गादि सम्बन्ध से सूक्ष्म अदृष्ट भी नष्ट होता है, तथापि जैसे प्रारब्ध-कर्म भोग से ही क्षीण होता है, जैसे काक, गृद्ध आदि देहों की व्यावहारिक अशुद्धि यावज्जीवन बनी रहती है, उसी प्रकार प्राण देवता से भगाये गए पाप्मा के आश्रयभूत म्लेच्छादि शरीर तथा प्रत्यन्त देश यावज्जीवन आर्यों के संसर्ग योग्य न होने से अगम्य ही रहेंगे । तभी ‘‘नान्त्यमियात् न जनमियात्’’ ये दोनों निषेध सार्थक होंगे । श्रीसावरकर द्वारा लिखित ‘इतिहास के छः स्वर्णिम पृष्ठ’ पुस्तक में तो मेधातिथि को परम सुधारक कहा गया है । उनके अनुसार मेधातिथि मुस्लिम औरतों से विवाह आदि करने का समर्थन करते हैं ।

अशुद्ध अभिप्राय और उसका निराकरण

आगे विदेशयात्रा समर्थकों का यह कहना ‘‘जब आर्य जाति का प्रसार पूरे भारत में कदाचित् न हो पाया होगा, तब ही रहन-सहन की सुविधा की दृष्टि से मनु का अपने संविधान (मनुस्मृति) में भारत के अमुक प्रदेशों में बसने न बसने का नियम सुसंगत हो सकता है। जैसा कि उन्होंने स्वयं कहा है -

“एतान् द्विजातयो देशान् संश्रयेरन् प्रयत्नतः ।

सिन्धु-सौवीर-सौराष्ट्र तथा प्रत्यन्तवासिनः ।।

कलिंग-कोङ्कणान् बंगान् गत्वा संस्कारमर्हति ।।”

इत्यादि स्मृतियाँ भारत की अखण्डता को चुनौती देती हैं । मनुस्मृति सत्ययुगीय स्मृति है । उसकी छाया लेकर निर्मित देवल स्मृति आदि ग्रन्थ भी उसी कोटि में परिगृहीत हो सकते हैं, अतः भारत के अमुक-अमुक भाग का वैशिष्ट्य तथा अमुक-अमुक भागों की हेयोपादेयता का तारतम्य तत्कालीन लाखों वर्ष पूर्व की परिस्थिति के अनुसार उपादेय हो सकता है, परन्तु सम्प्रति चारों धामों, सातों पुरियों एवं अगणित तीर्थों से पुनीत अखण्ड भारत समान रीति से हम सबका आवास्य है । इसलिए शास्त्र

के ऐसे वचनों को युगान्तर विषयक मानकर ही आस्तिक लोग भारत के पूर्व कथित निषिद्ध प्रदेशों में स्वधर्म पालन करते हुए आते जाते और निवास करते है।" अत्यन्त विरुद्ध है और सनातन धर्म के लिये चुनौती है । यही सब बातें तो आधुनिक सुधारक भी कहते हैं । मैक्समूलर का कहना था कि 'वेदों का महत्व कभी रहा होगा, परन्तु आज हम जिस जमाने में रह रहे हैं उसमें वेद मन्त्र जैसे ऊल-जलूल वस्तुओं के मंडराते रहने का कोई हक नहीं है ।' पण्डित नेहरू कहते थे कि 'बाल्यावस्था के वस्त्रों को जैसे यौवनकाल में नहीं पहना जा सकता वैसे ही पुराने शास्त्र एवं उनके नियम उस समय के लिये कितने ही उपयोगी क्यों न रहे हो, पर आज के जमाने में उनका उपयोग नहीं हो सकता।' आधुनिक अन्य सुधारक भी कहते हैं कि 'आज वायुयान, राकेट एवं हाइड्रोजन बम के जमाने में पुरानी बैलगाड़ियों तथा पत्थरों के औजारों एवं अस्त्रों का प्रयोग नहीं किया जा सकता । इसी तरह आज के वैज्ञानिक युग में वेद, बाइबिल, पुराण, कुरान की उपयोगिता नहीं हो सकती है। जैसे भिन्न-भिन्न देशकाल के अनुसार १८ स्मृतियाँ एवं १८ पुराणों का निर्माण हुआ वैसे ही आज के देशकाल के अनुसार नये शास्त्र नयी स्मृतियाँ बननी चाहिए । इसी दृष्टि से आजकल के नये संविधान, नई आचार संहिताएँ बनायी जाती हैं ।' उक्त विचारों का हमलोग सदैव खण्डन करते रहे हैं और जो लोग आज विदेश यात्रा का समर्थन कर रहे हैं वे लोग भी हम लोगों के साथ ही रहते थे, परन्तु अब वे लोग उन्हीं विरोधियों के उच्छिष्ट तर्कों का सार संग्रह कर उन्हीं के बल पर विलायत यात्रा का समर्थन करने लगे हैं, यह विचित्र बात है । वस्तुतः मन्वादि धर्मग्रन्थ वेदमूलक हैं, परिस्थितिमूलक नहीं हैं ।

धर्म में परम प्रमाण मन्त्र-ब्राह्मणात्मक वेद ही है । "चोदनालक्षणोऽर्थो धर्मः" "धर्म जिज्ञासःमानानां प्रमाणं परमं श्रुतिः", "तस्माच्छास्त्रं प्रमाणन्ते", स्मृतियाँ वेदमूलक होने से प्रमाण होती हैं । श्रुतिविरुद्ध स्मृति अनादरणीय होती हैं । प्रत्यक्ष श्रुति से अविरुद्ध स्मृति की श्रुतिमूलकता का अनुमान करके ही प्रामाण्य माना जाता है ।

"विरोधे त्वनपेक्षं स्यादसति ह्यनुमानम् ।" (जै.सू.)

"श्रुतेरिवार्थं स्मृतिरन्वगच्छत् ।।" (रघुवंश)

इससे भी विदित होता है कि श्रुति के अर्थ का ही स्मृति अनुसरण करती है। श्रुति या वेद अनादि हैं, अतः तन्मूलक स्मार्त्त एवं पौराणिक धर्म भी अनादि ही हैं। चार धाम, सात पुरियाँ एवं सभी स्मृति, पुराणोतिहासप्रसिद्ध तीर्थ भी अनादि ही हैं। इसी कारण तीर्थ की यात्रा के लिये भारत के निषिद्ध प्रान्तों में भी गमन दोषाधायक नहीं माना जाता । इसीलिए कहा गया है कि -

"अंग-बंग-कलिंगेषु सौराष्ट्रमगधेषु च ।

तीर्थयात्रां बिना गत्वा पुनः संस्कारमर्हति ।।"

स्मृति में स्पष्ट कहा गया है कि तीर्थयात्रा के बिना अङ्ग-बङ्गादि देशों में जाने से पुनः संस्कार करना चाहिए । आधुनिक विधान निर्माता अल्पज्ञ होते हैं, अपने देशों का भी उन्हें पूरा ज्ञान नहीं होता है । इसलिए उनमें पुनः संशोधन की आवश्यकता पड़ा करती है । वर्तमान भारतीय संविधान में बीस वर्षों से ही बीसों संशोधन करने पड़े है, परन्तु अनादि वेद एवं ईश्वरीय ज्ञान सर्व देश, सर्व काल, सब परिस्थितियों को परिलक्षित करते हैं । अतएव तन्मूलक धर्मशास्त्र, पुराण, इतिहास, तन्त्र, आगम आदि भी अब देश काल परिस्थितियों को परिलक्षित करते हैं। पूर्वोत्तर मीमांसा एवं निबन्धग्रन्थों में सभी का समन्वय करके ही किसी निष्कर्ष पर पहुँचा जाता है । महाभारत आदि पुराणों तथा रामायण एवं वेदों में भी मनु का नाम बड़े आदर से लिया जाता है । मन्वर्थ विपरीत स्मृतियाँ त्याज्य कही गयी हैं-

"मन्वर्थविपरीता या सा स्मृतिर्नैव शस्यते ।" (बृहस्पतिः)

वाल्मीकि रामायण में श्रीराम ने बाली के आक्षेपों का उत्तर देते हुए मनु के नाम का उल्लेख करते हुए कहा है कि मनु ने इसी प्रसङ्ग में दो श्लोक कहे हैं- वे दोनों चरित्रपोषक हैं और धर्मकुशलों से आद्दत हैं । उनके अनुसार ही मैंने आचरण किया है । राजाओं के द्वारा दण्डित पापी पुरुष निर्मल होकर सुकृती सन्तों के समान स्वर्ग जाते हैं । राजा दण्ड दे या छोड़ दे- अपराधी दोनों ही स्थिति में पापमुक्त हो जाता है । हां, दण्ड न देने से अपराधी के पाप राजा को किल्विषो होना पड़ता है -

"श्रुयते मनुना गीतौ श्लोकौ चारित्रवत्सलौ ।

गृहीतौ धर्मकुशलैस्तथा चाचरितं मया ।।" (वा. रा. ४।१८।३०)

"राजभिर्धृतदण्डाश्च कृत्वा पापानि मानवाः ।

निर्मलाः स्वर्गमायान्ति सन्तः सुकृतिनों यथा ।।

शासनाद्वापि मोक्षाद्वा स्तेनः पात् प्रमुच्यते ।

राजा त्वशासन्पापस्य तदवाप्नोति किल्विषम् ।।" (वा. रा. ४।१८।३१।३२)

मनमानी तर्कों से आज्ञासिद्ध पुराण, मानवधर्म तथा साङ्गवेद एवं आयुर्वेद का उपघात करना महाभारत में सर्वथा निषिद्ध कहा गया है' :-

"पुराणं मानवो धर्मः साङ्गौ वेदश्चिकित्सितम् ।

आज्ञासिद्धानि चत्वारि न हन्तव्यानि हेतुभिः ।"

(मनु. १।१ कुल्लूक टीका से उद्धृत)

तभी तो भगवान् रामानुजाचार्य की दिव्याज्ञा भी सर्वदेश, दिशाओं तथा कालों में अप्रत्याहत गति हो सकती है । यदि मनु की आज्ञा ही सर्वदेश, दिशा, काल में मान्य नहीं तब शंङ्कर, रामानुज आदि आचार्यों की आज्ञा कैसे सर्वत्र मान्य होगी?

जैसे बसन्त ग्रीष्मादि भेद से उपनयन, अग्न्याधान का भेद, प्रातः सांय भेद से सन्ध्या के भेद एवं सम्प्रदाय भेद से उचित अनुचित आदि अनेक भेद होते हैं और वे सब अनादि वेदों से बोधित हैं, वैसे ही कृत, त्रेता आदि भेद से कुछ स्मार्त्त धर्मों के भेद भी अनादि वेद शासन से ही बोधित हैं, अतः मनु एवं देवल आदि के द्वारा वर्णित देशों की अगम्यता या निषिद्धता लाखों वर्ष पहले के लिये ही है, यह कहना सर्वथा निर्मूल एवं असङ्गत ही है । इसीलिए आज तक शिष्ट लोग उसका पालन कर रहे हैं ।

विदेशयात्रा के समर्थन में लोग कहते हैं - "लाखों वर्ष पूर्व तो द्वीपान्तरों में सूर्यवंशी, चन्द्रवंशी क्षत्रिय तथा उनके उपदेशक ब्राह्मण, वैश्य आदि रहते थे, आते जाते रहते थे । उनका आचार-विचार सब ठीक था, परन्तु वह स्वर्णयुग समाप्त हो गया। प्रवासी भारतीय शनैः शनैः धर्म कर्म भूल गये, वृषल हो गये, धर्महीन हो गये।"

ठीक है, इसके अनुसार जब मनुशासनकाल में लाखों वर्ष पूर्व वैसे प्रदेशों में गमनागमन निषिद्ध हो सकता था तो अब जब कि उनमें म्लेच्छता आ गयी है, तब तो उनकी निषिद्धता सुतरां माननी चाहिए, यह स्वयं स्पष्ट है । अपने ही पूर्वापर के विरुद्ध कथन पर विदेशयात्रासमर्थक लोग ध्यान नहीं देते यह आश्चर्य है।

कलिवर्ज्य तथा प्रत्यन्त (विदेश) गमन पर पूर्वपक्ष एवं उत्तरपक्ष

आगे विदेश-यात्रा के समर्थक 'क्या समुद्रयात्रा कलि में वर्ज्य है?' यह प्रश्न उठाकर कहते हैं -

"समुद्रयात्रास्वीकारः" (वृहन्नारदीपे)

"द्विजस्याब्धौ तु निर्याणम्।" (पराशरमाधवीये)

"समुद्रयायी वान्ताशी तैलिकः कूटकारकः।"

“एतान् विगर्हिताचारानपाङ्क्तेयान् द्विजाधमान् ।।

द्विजातिप्रवरो विद्वानुभयत्र विवर्जयेत् ।।” (मनु. ३/१६७)

“नौभिर्यात्रा दिनत्रयम्” “यो वसेत्स तु पातकी ।” (हेमाद्रौ मरीचिः)

“द्विजस्याब्धौ तु नौ यातुः शोधितस्याप्यसंग्रहः ।।” (आदित्यपुराणे)

“समुद्रयानगमनं ब्राह्मणस्य न शस्यते ।” (पराशर)

“समुद्रयायी कृतहा ते वर्ज्याः श्राद्धकर्मसु ।।” (उशना)

“तथा प्रत्यन्तवासिनः” “गत्वा संस्कारमर्हति ।” (बौधायन)

उपर्युक्त प्रमाणों को देखकर कुछ सज्जन समझने लगते हैं कि कलियुग में नाव पर बैठकर समुद्रयात्रा सबके लिये वर्जित हैं, परन्तु ऐसा समझना भ्रम है । क्योंकि कलिवर्ज्य के समस्त प्रकरण की एकवाक्यता करने पर जो रहस्य प्रकट होता है, उसका हम संक्षेप में उल्लेख करते हैं।

(क) वेदवाङ्गमय मन्वादि प्रधान अष्टादश स्मतियों, महापुराणों एवम् अष्टादश उपपुराणों में कलिवर्ज्यप्रकरण दृष्ट नहीं है ।

(ख) लौगाक्षिस्मृति में कलिवज्य प्रकरण तो है, परन्तु उसमें नाव द्वारा समुद्रयात्रा का उल्लेख नहीं है। केवल संन्यास, असवर्ण-विवाह, उढापुनरुद्वाह आदि अन्यान्य निषेध ही दृष्ट हैं।

“समुद्रयात्रास्वीकारः”- ऊपर निर्दिष्ट प्रथम प्रमाण वृहन्नारदपुराणोक्त है ।

“द्विजस्याब्धौ तु नौयातुः”- यह पञ्चम प्रमाण आदित्यपुराण के नाम से निर्णयसिन्धु आदि निबन्धग्रन्थों में उद्धृत है । उक्त दोनों ही ग्रन्थ उपोपुराण कोटि के हैं । एतावता इनका दौर्बल्य आपाततः स्वयं सिद्ध है। कलि में पराशरस्मृति का प्राधान्य सर्ववादिर्समत है । उक्त स्मृति में समुद्रयात्राविषयक प्रकरण उपलब्ध नहीं है। “समुद्रयात्रास्वीकारः” ऐसा शुद्ध पाठ मानने पर इसका अर्थ होगा कि समुद्रयात्रा की स्वीकृति कलियुग में निषिद्ध है । विचारणीय है कि इस पक्ष में ‘स्वीकृति’ शब्द सर्वथा निरर्थक सिद्ध होता हैय क्योंकि केवल समुद्रयात्रा कह देने से ही विवक्षित अर्थ स्पष्ट हो जाता है । वस्तुतः यहाँ - “समुद्रयातुः स्वीकारः” ऐसा पाठ होना संगत है । इसका तात्पर्य होगा, समुद्रयात्रा करने वाले व्यक्ति को प्रायश्चित्त द्वारा शुद्ध स्वीकार कर लेना कलि में वर्ज्य है । यही भाव आदित्यपुराण के भी प्रमाण से पुष्ट होता है । अब प्रश्न है कि समुद्रयायी किस-किस प्रसंग में संग्राह्य न होगा ? तो इसका स्पष्टीकरण उपर्युक्त

मनु के तीसरे वचन, मरीचि के चौथे, पराशरोक्त छठे और उशना के द्वारा प्रोक्त सातवें प्रमाणों को मनन करने से विदित होता है कि समुद्रयायी ब्राह्मण प्रायश्चित्त करने पर भी पितृनिमित्तक श्राद्धकर्म में भोज्य न होगा । मनु उसे उभयत्र दैव, पित्र्य दोनों प्रकार के कर्म में निषिद्ध मानते है । एतावता कलिवर्ज्य प्रकरण में जहाँ जहाँ द्विज शब्द आया है वहाँ उसका ब्राह्मणमात्र अर्थ लेना उचित है, क्योंकि श्राद्धभोज्यता ब्राह्मण से ही सम्बन्धित है । एतावता क्षत्रिय, वैश्यों में वे वचन लागू न होंगे । वे कृतप्रायश्चित सर्वाश में अर्ह होंगे, केवल ब्राह्मण ही दैव-पित्र्य कर्मा नहीं होगा।

अब यहाँ दूसरा प्रश्न है कि समुद्रयात्री कौन ब्राह्मण दैव-पित्र्य में असंग्राह्य होगा । इसका उत्तर उपर्युक्त मनु के प्रमाणों में ही गर्भित है। उन्होंने जो अपाङ्क्तेय और द्विजाधम परिगणित किये है वे सबके सब तादृक् जीविका वाले व्यक्ति ही हैं। यथा वान्ताशी, संन्यास लेकर पुनः घरबारी बन जाने वाला, तैलिक-तेल पेरन वाला आदि-आदि । इसी तालिका में समुद्रयायी की भी गणना है, तो यह भी निरन्तर सामुद्रिक यातायात की आजिविका करने वाला ही अभिप्रेत है । इस प्रकरण से प्रायः सर्वत्र तच्छील, तद्धर्म तत्साधुकारी अर्थ में तृन् प्रत्ययान्त यातृ शब्द अथच आभीक्षण्यार्थक णिनि प्रत्ययान्त यायी शब्द का ही प्रयोग हुआ है, जिससे समुद्रयात्री वही व्यक्ति हो सकता है जो निरन्तर सामुद्रिक यातायात वृत्ति से जीवन-निर्वाह करता है । मनुजी की उक्ति में अपाङ्क्तेय, द्विजाधम ये दो विशेषण भी बड़े साकूत हैं । जिनसे यह व्यक्त किया गया है कि ब्राह्मण यदि नाविक वृत्ति अपनाये तो वह अपाङ्क्तेय हो जायगा । यदि क्षत्रिय, वैश्य मांझी बनकर जायें तो वे द्विजाधम हो जायेंगे, क्योंकि उनके दैव-पित्र्य कार्य में निमन्त्रित होने का प्रश्न ही नहीं उठता । उनके विषय में अपाङ्क्तेय शब्द का स्वारस्य नहीं ।

समुद्रयात्रा स्वीकार निषेध का तात्पर्य अन्ततोगत्वा यही हुआ की नाव चलाने का पेशा अपनाने वाला द्विज शूद्रातिशूद्रों की नौवहनरूप परम्परागत वृत्ति का अपहरण करने के पाप से लिप्त हो जायगा । ऐसे पतित ब्राह्मण का फिर दैव-पित्र्य कर्म में प्रायश्चित्त करने पर भी संग्रह नहीं हो सकेगा । इसलिए वृहन्नारदीय और आदित्यपुराण के वचनों का धर्मोपदेशार्थ द्वीपान्तर की यात्रा करने वाले ब्राह्मणों से और राष्ट्ररक्षार्थ प्रस्थान करने वाले क्षत्रियों से एवं व्यापार के लिए गमनागमन करने वाले वैश्यों से कुछ भी सम्बन्ध नहीं है ।

यहाँ हमने पूरा का पूरा समुद्रयात्रा के समर्थन का पक्ष रख दिया । अब इस पर विचार करने से यह स्पष्ट हो जाता है कि विदेशयात्रा के समर्थक जिस किसी

तरह भी समुद्रयात्रा का समर्थन मात्र करना चाहते हैं । उन्हें तत्वनिर्णय अभीष्ट नहीं है ।

वृहन्नारदीयपुराण पुराण या उपपुराण ही है

पहले तो कलिवर्ज्य के वचनों का उपोपपुराण कोटि के ग्रन्थ में होने पर दौर्बल्य स्वयं सिद्ध मानना ही पलायन मनोवृत्ति का द्योतक है। वस्तुतः वृहन्नारदीय पुराण महापुराण ही है । किसी मत के अनुसार वह उपपुराण निम्नोद्धृत वचनों से वृहन्नारदीय का पुराणत्व प्रसिद्ध है।

१. – श्रीमद्भागवतमतेन नारदपुराणम् । अत्र न महापुराण–उपपुराण भेदः तथाहि तत्रत्यं वाक्यम् ''नारदं पञ्चविंशतिः'' १२।१३।५ 'श्रीमद्भागवत के अनुसार नारदपुराण २५ हजार श्लोकों का है ।'

२. – मत्स्यपुराणे– ५३ अध्याये–

''यत्राह नारदो धर्मान् वृहत्कल्पाश्रयाणि च ।

पञ्चविंशत्सहस्त्राणि नारदीयं तदुच्यते ।।'' (२३)

मत्स्यपुराण के अनुसार भी वृहन्नारदीय पुराण है । उसे वृहत्कल्प सम्बन्धी २५ हजार श्लोकों वाला कहा गया है । यहीं पुराण एवं आख्यानक में वर्णित है –

अस्मिन्नेवाध्याये पुराणाख्यानभेदेन पुराणद्विध्यम् । तथाहि–

''अष्टादशभ्यस्तु पृथक् पुराणं यत्प्रदिश्यते ।

विजानीध्वं द्विजश्रेष्ठास्तदेभ्यो विनिर्गतम् ।।

पञ्चांगनि पुराणेषु आख्यानकमिति स्मृतम् ।।'' (६३)

अत्रैव पुराणलक्षणम् –

''सर्गश्च प्रतिसर्गश्च वंशो मन्वन्तराणि च ।

वंशानुचरितञ्चौव पुराणं पञ्चलक्षणम् ।।'' (६)

अत्रैव एकलक्षणमपि पुराणं प्रोक्तम् :–

''लक्षणौकैन यत्प्रोक्तं वेदार्थपरिवृहितम् ।'' (६६)

उपर्युक्त वचनों में पञ्चलक्षण तथा एकलक्षण पुराण कहा गया है ।

३. – श्रीमद्देवीभागवते महापुराणे प्रथमस्कन्धे तृतीयेध्याये :-

"पञ्चविंशतिसाहस्त्र नारद परम मतम् ।।" (६)

देवीभागवत में भी पुराण के रूप में नारदपुराण का वर्णन है ।

४. पाद्मोत्तरखण्डे (४३ अध्याये) सात्विक पुराणानि :-

"वैष्णवं नारदीयश्च तथा भागवतं शुभम् ।

गरुडञ्च तथा वाराहं शुभदर्शने ।।

सात्विकानि पुराणानि विज्ञेयानि शुभानि वै ।।"

पद्मोत्तरखण्ड में सात्विक पुराणों के ही प्रकरण में- वैष्णव, नारदीय, भागवत, गारुड, वाराह- ये सब सात्विक पुराण हैं ।

उपपुराणानि

"उपमितानि पुराणैरिति-उपपुराणम् ।"

अर्थात् व्यासकृताष्टादशपुराणसदृशनानामुन्यादिप्रणीताष्टादशपुराणानि :-

"अन्यान्युपपुराणानि मुनिभिः कथितान्यपि ।

दुर्वाससोक्तमाश्चर्यं नारदीयमतः परम् ।" (इति मलमासतत्वोद्धृतं कूर्मपुराणम् ।)

उक्त कूर्मपुराण के अनुसार नारदीय पुराण को उपपुराण कहा गया है । उपोपपुराण कहीं नहीं माना गया है ।

यदि उपोपपुराण है- तो भी जब सनातनधर्मी मिताक्षरा, निर्णयसिन्धु आदि निबन्धग्रन्थों को भी प्रमाण मानते हैं, तब उन निबन्धों में उद्धृत उपोपपुराणवचनों का प्रामाण्य क्यों न माना जाय ?

वैसे नास्तिक लोग तो वेद को भी प्रमाण नहीं मानते । अर्धनास्तिक ब्राह्मण और पुराणों को भी प्रमाण नहीं मानते । परन्तु आस्तिक सनातनधर्मी तो श्रुति-स्मृत्यविरूद्ध शिष्टाचार एवं शिष्टाचारानुमित स्मृति को भी प्रमाण मानते है । इसके अतिरिक्त जब मनु एवं पराशरस्मृति में समुद्रयात्रा को निन्दित बतलाने वाले वचन है ही तब तो विदेश-यात्रा की अशास्त्रीयता सिद्ध ही है ।

'समुद्रयायी' आदि शब्द तत्सम्बन्धी जीविकापरक नहीं

विदेशयात्रा-समर्थन में यह कथन संगत नहीं है कि 'मनु आदि ने नाव के द्वारा यातायात की आजीविका वृत्ति वाले ब्राह्मण को ही अग्राह्य कहा है ।' यह भी कहना अशुद्ध है कि 'मनु ने जो अपाङ्क्तेय, द्विजाधम परिगणित किये हैं वे सब के सब तादृक् जीविका वाले व्यक्ति ही हैं', क्योंकि आपके द्वारा प्रथमोद्धृत 'वान्ताशी' ही जीविका अपनाने वाला व्यक्ति नहीं है । जैसे वान्त उद्गीर्ण का पुनर्भक्षण करने वाला श्वान आदि वान्ताशी होता है वैसे ही परित्यक्त गृह दारादी विषय-भोग को पुनः ग्रहण करने वाला संन्यासी वान्ताशी कहा जाता है । इसमें जीविका की कोई बात ही नहीं ।

बिना जीविका की दृष्टि से भी यदि कोई संन्यासी स्त्री आदि विषयों में निरत हो जाता है तो वह 'वान्ताशी' ही कहा जाता है । ताच्छील्य हुये बिना एक दिन भी वैसा करने से वह 'वान्ताशी' ही होगा ।

"ये स्तेन-पतित-क्लीवा ये च नास्तिकवृत्तयः ।"

इस १५० वें से लेकर १६६ वें श्लोक तक श्राद्ध में अभोज्य ब्राह्मणों का वर्णन करके-

"एतान् विगर्हिताचारानपाङ्क्तेयान् द्विजाधमान् ।"

इस १६७वें श्लोक में इन सभी को द्विजाधम, अपाङ्क्तेय कहा गया है । इन स्तेन, चोर, पतित क्लीव, वेदाध्ययनरहित, जटिल (ब्रह्मचारी), दुर्बल (दुष्चर्मा), द्यूत खेलने वाला, चिकित्सक, देवलक, मांसविक्रयी, वाणिज्यजीवी, राजा या ग्राम का प्रेष्य, कुनखी, श्वावदन्तक, गुरुविरोधी, श्रौत्त-स्मार्त्त अग्नि त्यागने वाला, कलाओं से जीविका चलाने वाला, यक्ष्मी, पशुपाल, परिवेत्ता, परिवित्ति, पञ्चयज्ञ न करने वाला, ब्रह्मद्विट्, गणार्थधनोपजीवी, कुशीलव (नर्तनोपजीवी), वृषलीपति, पौनर्भव, सवर्णा के विवाह बिना शूद्रा से विवाह करने वाले, काण, जारवती पत्नी वाला, भूतकाध्यापक, भृतकाध्यापित, शूद्राशिष्य, शूद्रगुरु, वाग्दुष्ट, कुण्ड, गोलक, उचित कारण बिना माता, पिता तथा गुरु को त्यागनेवाला, पतितों से अध्ययन तथा कन्यादान सम्बन्ध करने वाला, अगारदाही, विष देने वाला, कुण्डाशी, सोम वक्रयी, समुद्रयायी, वन्दी, तैलिक, कूटकारक, मिथ्यावादी, पिता के साथ निरर्थक विवाद करने वाला, द्यूत खेलने वाला, मद्यप तथा पापरोगी (कुष्ठी), अभिशप्त, दाम्भिक, रसविक्रेता, धनुष तथा शर आदि का निर्माता, अग्रेदिधिषुपति (ज्येष्ठभगिनि के विवाह बिना कनिष्ठ कन्या से विवाह करने वाला), मित्र-द्रोही, द्यूतवृत्ति, पुत्राचार्य (पुत्र द्वारा अध्यापित), भ्रामरी (अपस्मारी), गंडमाली, श्वित्री, पिशुन, उन्मत्त तथा अन्ध श्राद्ध में वर्जित हैं ।

'वेदनिन्दक, हस्ति-गो-अश्व-उष्ट्र का दमन करने वाला, नक्षत्र जीवी पक्षिपोषक, युद्धाचार्य, सेतु-भेदादी द्वारा जलप्रवाह को दूसरी तरफ ले जाने वाला, जलप्रवाहरोद्धा, वास्तुविद्योपजीवी, राजग्रामप्रेष्य से भिन्न दूत, वेतन लेकर वृक्ष लगाने वाला, श्वक्रीडी, श्येनजीवो, कन्या-दूषक, हिंस्र, वृषलवृत्ति गणों का याजक, आचारहीन, धर्म- कृत्य-विमुख, याचक, परोद्वेजक, कृषिजीवी, श्वीपदी, सन्निन्दित, मेष-महिष-जीवी, परविवाहितापति, धन लेकर प्रेतकार्यकारी, ये भी श्राद्ध में वर्जित हैं । इनमें जीविकार्थ निन्दित कर्मों का पृथक् स्पष्ट निर्देश कर दिया गया है ।

"अगारदाही गरदः कुण्डाशी सोमविक्रयो ।

समुद्रयायी वन्दी च तैलिकः कूटकारकः ।।" (मनु अ. ३, १५८)

इसमें 'समुद्रयायी' का अर्थ कुल्लूकभट्ट ने स्पष्ट किया है-

"समुद्रे यो वहित्रादिना द्वीपान्तरं गच्छति ।"

अर्थात् जो समुद्र के जहाज आदि द्वारा द्वीपान्तर की यात्रा करता है वह 'समुद्रयायी' है । इसी प्रकार और शब्दों का भी अर्थ कुल्लूकभट्ट ने यों किया है-

'गृहदाहक, मरण हेतु द्रव्य का दाता, कुण्ड एवं गोलक का भोजन करेने वाला, सोमलता का विक्रेता तथा समुद्रयायी, तैल के लिये तिलादी बीजों का पेष्टा, साक्षिवाद में मृषावाद करने वाला ।'

कुल्लूक के अनुसार इसमें गृहदाहक, गरद, कुण्डाशी, तैलिक, बन्दी, कूटकारक, समुद्रयायी- कोई भी जीविका-बोधक शब्द नहीं है । केवल सोमविक्रयी शब्द ही जीविकाबोधक है । अतएव तृन् प्रत्यय एवं णिनि प्रत्यय की बाता उठाना भी निरर्थक ही है ।

व्याकरण के अनुसार समाधान

यद्यपि **"सुप्तजातौ णिनिस्ताच्छील्य"**(३।२।७८) **"बहुलमाभीक्ष्ण्ये"**(३।२।८०)

इन सूत्रों से ताच्छील्य एवं आमीक्ष्ण्य अर्थ में णिनि प्रत्यय होता है, तथापि अगारदाही, कुण्डाशी, वान्ताशी आदि मनुप्रयोगवशात् आभीक्ष्ण्य, ताच्छील्य बिना एक-दो बार भी कुण्ड, गोलक का भोजन करने वाला कुण्डाशी, गोलकाशी होता है । एक बार स्त्री-आदि के भोग में प्रवृत्त होने वाला संन्यासी भी वान्ताशी होता है। एक बार घर में आग लगाने वाला भी अगारदाही कहा जाता है । अन्यथा यह भी मानना पड़ेगा

कि एक बार आग लगाने वाला अगारदाही नहीं होगा, परन्तु ऐसा मानना सर्वथा असंगत तथा निष्प्रमाण ही होगा ।

''ण्वुल् तृचौ (३।१।१३३) इस सूत्र से तृच् प्रत्यय द्वारा भी कर्त्ता, याता आदि निष्पन्न होते है ।'' आक्वेस्तच्छीलतद्धर्म-तत्साधुकारिषु (३।२।१३४) इस सूत्र से पूर्व का ही होने से तृच् प्रत्यय तच्छीलत्वादि अर्थ में न होकर कर्त्ता अर्थ में ही होता है ।

सिद्धान्तकौमुदीकार ने वृदन्त प्रकरण के आरम्भ में ही लिखा है- 'कृत्यल्युटः इत्येव सूत्रमस्तु यत्रविहितास्ततोऽन्यत्रापि स्युरित्यर्थात् । एवञ्च बहुलग्रहणं योगविभागेन कृन्मात्रस्यार्थव्यभिचारार्थम् ।'

अर्थात् 'कृत्यलुटो बहुलम्' इस सूत्र में 'बहुल' ग्रहण न होने पर भी- सूत्रारम्भसामर्थ्यात् कृत्य ल्युट्, प्रत्यय जिस अर्थ में विहित है उससे अन्य अर्थ में भी होते है यह सिद्ध हो जाता है । फिर भी बहुलग्रहण से यह जानना चाहिए कि कृत्य, ल्युट् ही नहीं किन्तु सभी कृत् प्रत्यय जिस-जिस अर्थ में विहित है उससे अन्य-अन्य अर्थों में भी होते हैं। इस तरह भी वान्ताशी, समुद्रयायी यातृ आदि ताच्छील्य आदि से भिन्न अर्थ से भिन्न अर्थ में सिद्ध होते है ।

अतएत्र एक बार घर में आग लगाने वाला भी 'अगारदाही' वर्ज्य ही होता है । अगारदाह की कोई जीविका भी नहीं होती । उसी प्रकार कुण्डाशी की भी बात है । कुल्लूक भट्ट के अनुसार वान्ताशी पाठ न होकर कुण्डाशी पाठ है ।

<u>द्विज शब्द का ब्राह्मण ही अर्थ नहीं</u>

यह भी कहना असंगत है कि ''कलिवर्ज्य प्रकरण में द्विज पद का अर्थ ब्राह्मण है । व्यापक रूप से ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य नहीं, क्योंकि श्राद्ध में ब्राह्मण की ही ग्राह्यता-अग्राह्यता का प्रश्न उठता है ।'' वस्तुतः ''एतान् द्विजातयो देशान्'' के साथ समुद्रयात्रानिषेधक वाक्यों की एकवाक्यता है । अतएव टीकाकारों ने समुद्रनौका द्वारा द्वीपान्तर की यात्रा करने वाला ही 'समुद्रयायी' शब्द का अर्थ किया है, अतः समुद्रनौका भी उपलक्षण ही है । रेलगाड़ी, वायुयान, नाव, पैदल किसी तरह भी द्विपान्तर गमन का निषेध है । भेद इतना ही है कि अन्य युगों में प्रायश्चित से ग्राह्यता होती है ।

कलिवर्ज्य प्रकरण के अनुसार कलि में प्रायश्चित्त करने पर भी ग्राह्यता नहीं होती है । अग्राह्यता का अर्थ केवल श्राद्ध में ही अग्राह्यता नहीं, किन्तु उस अपाङ्क्तेय

और द्विजाधम की एक पंक्ति में भोजन, वेदाध्ययन, विवाह आदि में भी अग्राह्यता होती है जैसे कि अवकीर्णी की अग्राह्यता कही गयी है ।

अग्राह्यता का सीधा अर्थ अतिवहिष्कार ही है । यह क्षत्रिय, वैश्य के लिए भी लागू होता है । शूद्र के लिये भी द्वीपान्तर यात्रा निषिद्ध ही हैं, क्योंकि वह भी वर्णाश्रमी है । कर्मभूमि भारत से बाहर जाना उसके लिये भी अनुचित है । वृत्तिकर्षित होने पर ही उसे जिस किसी भी देश में रहने की अनुमति है । अपनी जाति में भोजनादि की पंक्ति में अग्राह्य होना भी अपाङ्क्तेयता ही है ।

मनु के वचन में तो ''उभयत्र विवर्जयेत्''- हव्य-कव्य में दैव, पित्र्य कर्म में अपाङ्क्तेय द्विजाधम अग्राह्य है- यह तो प्रासंगिक विशेषोल्लेख है ।

तैलिक का अर्थ तिल पेरने का व्यापार करने वाला नहीं हैं, किन्तु कुल्लूक के अनुसार 'तैलार्थ तिलपेषण करने वाले' ही है । वह अपने काम के लिए भी हो सकता है । इसी तरह समुद्रयायी का भी अर्थ कुल्लूक के अनुसार समुद्रनौका से द्वीपान्तर की यात्रा करने वाला ही है । सामुद्रिक यातायात से आजीविका करने वाला अर्थ सर्वथा निराधार एवं अप्रामाणिक नहीं, श्रुत्यादि प्रमाण के विरूद्ध भी है । 'नौयातुः' आदि का 'एतान् द्विजातयः' के अनुसार 'द्वीपान्तर गमन के लिये समुद्रयात्रा करने वाला' ही अर्थ है ।

उक्त श्राद्ध-प्रसङ्ग में जीविका वालों का पृथक् उल्लेख किया गया है । तभी जुआ खेलने वाले तथा जुआ खेलाने वाले से पृथक् द्यूत जीविका वाले ''मित्रध्रुग् द्यूतदृत्तिश्च'' (३।१६०) में 'द्यूत-वृत्ति' नाम से पृथक् उल्लेख है ।

पूर्वापरविरोध

विदेशयात्रासमर्थकों के अनुसार तो ''ऐसे आपात्काल में वर्णाधमियों को अपने से नीचे के वर्णों के कर्म करके भी जीवन निर्वाह कर लेना चाहिए।'' (६१ पृ. लो.)

ऐसी स्थिति में नौकाचालनरूप वृत्ति या जीविका स्वीकार करने पर भी ब्राह्मण अपांक्तेय एवं क्षत्रियवादि द्विजाधम क्यों होंगे? क्या यह परस्पर विरुद्धी कथन नहीं हैं । तब विदेशयात्रा के समर्थन में यह भी कहना कि 'समुद्रयायी प्रायश्चित करने पर कलि में ग्राह्य नहीं होगा' (७३ पृ.लो.) क्या स्वयं के ही कथन से विरुद्ध न होगा, क्योंकि विदेशयात्रासमर्थक यह मान चुके है कि ''गङ्गोदकपान से, भगवन्नाम से सभी पाप मिट जाते है।'' 'ऐहलौकिक ग्राह्यता होगी' इस सिद्धान्त को वे लोग निराधार और

निन्द्य मानते हैं । (६५ पृ. लो.) इस तरह विदेश-यात्रासमर्थकों की बातों से ही उनके सिद्धान्त कट जाते हैं ।

द्वीपान्तरगमन के समुद्रयात्रा शिष्टाचार नहीं

आगे पञ्चधा विप्रतिपत्ति की चर्चा उठाकर समुद्र-यात्रा को शिष्टाचार सिद्ध करने का प्रयास किया जाता है ।

''दक्षिणतस्तथोत्तरतः यानि दक्षिणतस्तान्यनुव्यख्यास्यामः । यथैषामनुपनीतेन सह भोजनम्, स्त्रिया सह भोजनम्, मातुलसुतागमनम्, पितृष्यसृदुहितृगमनमिति । अथोत्तरतः- ऊर्णाविक्रयः, सीधुपानमुभयतोदद्भिर्व्यवहारः, अयुधीयकम्, समुद्रयानम् ।''

स्मृतिरत्नाकरे कलिविशेषधर्मः -

बौधायनः-

''अब्रह्मचारिदाराद्यैः साद्र्धम् भोजनकर्म च ।
मातुलादिसुतायाश्च विवाहः शिष्टसम्मतः ।।
एतानि दाणिक्षात्यानामविगीतानि धर्मतः ।''

तत्रैव व्यासः -

''समुद्रयानं मांसस्य भक्षणं शास्त्रजीविका ।
सीधुपानमुदीच्यानामविगीतानि धर्मतः ।।'' **(स्मृतिसुक्ताफले स्मृतिरत्नाकरे)**

अर्थात् पाँच प्रकार की विप्रतिपत्तियाँ देखी जाती हैं, नर्मदा से कन्याकुमारी पर्यन्त दक्षिण के प्रदेशों में और विन्ध्य से हिमालय तक के उत्तर के प्रदेशों में । जैसे दक्षिण में अनुपनीत बालकों और पत्नी के साथ भोजन करना, मामा और बुआ की कन्या से विवाह करना । इसी प्रकार उत्तर में ऊन बेचना, खजूर आदि वृक्षों का मादक रस पीना, घोड़े-खच्चर का पालन करना, सेना में भर्ती होना तथा समुद्रयात्रा करना । अब्रह्मचारी और स्त्री आदि से मिलकर भोजन करना, मामा फूफी की कन्या से विवाह करना- ये कार्य शिष्टसम्मत हैं, इसलिए दक्षिणात्यों के ये अनिन्द्य कर्म हैं। समुद्रयात्रा, मांसभक्षण, शस्त्रजीविका, मादक निर्यास का पान करना, उत्तर देशियों का अनिन्दनीय कर्म हैं........तथैव समुद्रयात्रा भी देशविशेषपरत्वेन हिमवद्विन्ध्योत्तरवासी जनों के लिये प्रायश्चित्तार्ह नहीं हैं, किन्तु अनिन्द्य हैं । (७५ पू. लो.)

वस्तुतः उक्त वचनों से भी समुद्रयात्रा का समर्थन नहीं होगा । क्योंकि ये सामान्य वचन हैं । 'नान्त्यमियात्' श्रुतिवचन इससे प्रबल है, अतः बाधक है ।

'सीधु' शब्द का इक्षुरसनिर्मित सुरा ही अर्थ है । शब्दकल्पद्रुम में स्पष्ट हैं– ''इक्षुरसनिर्मितसुरेत्यमरभरतो'', और वह वेद एवं मन्वादी तथा ''सुरां न पिबेत्'' आदि प्रबल वचनों से विरुद्ध होने के कारण उत्तर में भी शिष्टाचार कोटि में परिगणित नहीं है । वैसे ही समुद्रयान द्वारा विलायतयात्रा भी अतिनिषिद्ध होने से शिष्टाचार में मान्य नहीं है । जैसे कुछ असंस्कृत लोग ही उत्तराखण्ड में सुरापान करते हैं वैसे असंस्कृत लोग ही विलायतयात्रा भी करते हैं । मातुलकन्योद्वाह को भी श्रीमद्भागवत में स्पष्ट अधर्म कहा है–

''जानन्नधर्म तद्यौनं रुक्मिणीप्रियकाम्यया'' (द.स्क.उ.)

''समुद्रयानम्'' इस स्मार्त्त वचन के आधार पर ''नान्त्यमियात'' इस श्रुति वचन को प्रत्येक नगर के दक्षिण भाग में बसे हुए अन्त्यावसायियों के आवासस्थलों के संसर्गनिषेध में चरितार्थ मानना अत्यन्त असंगत है । जैसे सुरापाननिषेधक वचन का सीधुपान वचन से बाध नहीं हो सकता वैसे ही समुद्रयानबोधक स्मात्तवचन से प्रत्यन्तगमननिषेधक श्रुतिवचन का बाध नहीं हो सकता । यदि प्रत्येक नगर के दक्षिण भाग में निवासी अन्त्यावसायी लोगों के संसर्ग का निषेध ही उक्त श्रुतिवचन का अर्थ होता तो मन्वादि धर्मशास्त्रकार तथा कलिवर्ज्यप्रकरण आदि विलायतयात्रा या म्लेच्छ देशों को निषिद्ध क्यों कहते ? विष्णुपुराण आदि भी भारतवर्ष को ही कर्मभूमि एवं तद्भिन्न भूमि को निन्द्य क्यों कहते ? और विदेशयात्रासमर्थकों के अनुसार तो प्रत्येक नगर के दक्षिण भाग का संसर्गत्याग 'नान्त्यमियात्' इस श्रुति का अर्थ ही नहीं है, क्योंकि वे लोग तो प्रत्येक पापिष्ठ व्यक्ति एवं तदधिष्ठित भूमि का संसर्ग निषेध ही उक्त श्रुति का अर्थ मानते हैं । ऐसी स्थिति में यहाँ उसके विरुद्ध दक्षिण भाग संसर्ग को निषिद्ध स्वीकार करना परस्पर विरुद्ध ही है ।

वस्तुतः स्मृति में सामान्य समुद्रयान को ही उत्तर का शिष्टाचार कहा गया है। द्वीपान्तर गमन के लिये समुद्रयान तो श्रुत्यादि विरुद्ध होने से शिष्टों से विगर्हित है ही। इसीलिए मिताक्षरा, हेमाद्रि, पराशर–माधव, निर्णयसिन्धु आदि प्रायः सभी निबन्धग्रन्थ उसका विरोध करते हैं ।

विदेशयात्रानिषेध किसी कालविशेष के लिये नहीं

आगे विदेशयात्रा समर्थक कहते हैं कि ''धर्मशास्त्रों में विधि-निषेध आत्यन्तिक निर्हेतुक नहीं होते''-

''नाकारणो हि शास्त्रेऽस्ति धर्मः सुक्ष्मोऽपि जाजले ।
कारणाद्धर्ममन्विच्छन् स लोकानाप्नुते फलम् ।।'' (महाभारत)

'हे जाजले! शास्त्र में सूक्ष्म से सूक्ष्म धर्म भी अकारण नहीं कहा गया है । जो व्यक्ति कारणपुरस्सर धर्म का अनुसन्धान करता है वही शुभलोकों को प्राप्त होता है ।' अतः कलिवर्ज्य समस्त धर्म भी अकारण निषिद्ध नहीं । महाभारत संग्राम के बाद जब भारत का अन्य द्वीपों से उन्मुक्त यातायात बन्द सा हो गया, नावसंचार पर विदेशियों का सर्वाधिकार हो गया, समुद्रयात्रा निरापद न रही, पालवाली नावों के द्वारा एक देश से दूसरे देशों तक जाना महीनों, वर्षों का काम हो गया, म्लेच्छ लोग तो स्वभावतः मछली खाते-पीते यथा-तथा आते-जाते रहे, परन्तु निरमिशभोजियों के लिए यह सम्भव नहीं था, जबकि तीव्रगामी यान्त्रिक पोत भी सामुद्रिक जल के थपेड़ो से भग्न हो जाने की आपत्ति से उन्मुक्त नहीं हो सकते थे, फिर कपड़ों की पतवाड़ो के भरोसे नौकाओं से निरापद यातायात कैसे संभव था, निश्चित ऐसी समुद्रयात्रा करना जानबूझकर आत्महत्या ही करना था, अतः तत्कालीन दीर्घदर्शी स्मृतिकारों ने कलियुग के आदिम काल में सोच समझकर व्यवस्थापूर्वक विदेशयात्रा पर धार्मिक अंकुश लगा दिया । कलिवर्ज्य प्रकरण के उपसंहार में कहा भी है-

''एतानि लोकगुप्त्यार्थं कलेरादौ महात्मभिः ।
निवर्तितानि कर्माणि व्यवस्थापूर्वकं बुधैः ।।''

अर्थात् समुद्रयात्रा, संन्यास आदि आदि कर्म कलि में विद्वान महात्माओं ने लोकरक्षा के हेतु निवर्तित कर दिये हैं ।

धर्म आस्तिकों की नाकोदम करके उनका प्राणान्त कर देने वाला वधिक नहीं है, किन्तु वह तो पिता की भाँति बड़ी से बड़ी आपत्ति में भी जीवन प्रदान करने वाला जीवातु महौषध है । सो वह अन्धकारमय युग समाप्त हुआ । यन्त्रचालित पोतों का संचार सर्वजनीन हो गया । जिससें स्वगृह की भाँति समय पर सन्ध्या आदि नित्यकर्म निर्वाह करने की पूरी-पूरी सुविधा रहती है । स्वयं पाक का पूरा सुअवसर रहता है । नल, कल का जल ग्रहण न करने वाले व्यक्ति के लिए यथेच्छ गङ्गोदक के टीन ले जा सकने की पूरी सुविधा रहती है । बड़ी से बड़ी यात्राएँ महीनों, वर्षों की न होकर

परिमित दिनों की हो गयीं । ऐसी अनुकुल परिस्थिति में कलियुग के आदिकाल पाँच सहस्त्र वर्ष पूर्व की स्थिति सर्वथा बदल गयी । फिर भी अकारण विपद्युगीय व्यवस्था से बलात् चिपके रहकर कूपमण्डूकत्व अपनाना कहाँ की बुद्धिमत्ता है, अतः दुरापद्रस्थिति में ‘‘निवर्तितानि कार्याणि व्यवस्थापूर्वकं बुधैः’’ उचित था । सम्प्रति निरापद स्थिति में ‘‘प्रवर्तितानि कार्याणि व्यवस्थापूर्वकं बुधै’’ हो जाना सर्वथा उचित है । यही मानकर जगद्गुरु श्रीभारतीकृष्णतीर्थ, श्रीमधुसूदन ओझा, श्रीमालवीय जैसे शास्त्र-निष्णात, परम् आस्तिक व्यवस्था पूर्वक विदेशयात्रा में संलग्न हुये थे । स्वामी विवेकानन्द, रामतीर्थ, माधवाचार्य शास्त्री उनके सुपुत्र पं. प्रेमाचार्य शास्त्री जैसे कट्टर सनातनी नेता अपनी अहोरात्रचर्य्या अक्षुण्ण रखते हुए विदेश भ्रमण कर रहे हैं । अब वायुयान के समय तो चन्द घण्टों की यात्रा हो गयी । वायुयान यात्रा के निषेध में तो रंचभर भी प्रमाण नहीं मिलता । अब रामानुज सम्प्रदाय के पीठाधीश्वर भी ‘सर्वदेशदिशाकालेषु’ भावना को कार्यान्वित करके यशोभागी बनें । (७६-७७-७८ पृ. लो.)

परन्तु उपर्युक्त बातें आपातरमणीय एवं अज्ञजनों को ही व्यामोहित कर सकती हैं । कारण स्पष्ट है कि वेदादिशास्त्रों का परमतात्पर्य प्रत्यक्ष अनुमान से अविज्ञात धर्म, ब्रह्म के बोधन में ही होता हैं, यह

‘शास्त्रयोनित्वात्’ (ब्र.सू.), ‘चोदनालक्षणोऽर्थो धर्मः’ (जै. सू.)

‘तस्माच्छास्त्रं प्रमाणन्ते’ (गीता) से स्पष्ट है ।

आजकल और आगे बढ़कर कुछ विद्वान् यह भी तो कहते हैं कि जब लोग कपड़ा बनाना नहीं जानते थे, पहले पहल सूत कातना सीखा था, तब यज्ञोपवीत या ब्रह्मसूत्र धारण करने की पद्धति चली थी । अब अन्धकारयुग समाप्त हो गया । कपड़ो की मिलें बन गयीं । तरह-तरह के कपड़े बनने लगे । अब ब्रह्मसूत्र धारण करके कूपमण्डूकता को क्यों प्रश्रय दिया जाय ? वायुशुद्धि के लिये अग्निहोत्र होम कभी ठीक था, अब उसकी क्या आवश्यकता है । ‘‘नाकारणोऽस्तिशास्त्रेऽस्मिन्’’ । फिर तो कफनिवृत्ति के लिये आचमन की बात भी ठीक ही है । पर आश्चर्य तो यह है कि इन सब बातो का कल तक जो लोग खण्डन करते रहे, वे ही आज अपना प्रयोजन आ पड़ने पर उसी ढ़ङ्ग की ऊलजलूल बातें स्वयं करने लगे हैं ।

कारणवशात् अन्य कालों में निषेध क्यों नहीं !

विदेशयात्रासमर्थक महाभारत के पहले तक भारत का अन्य द्वीपों से उन्मुक्त यातायात मानते हैं, परन्तु जो आपत्ति तीव्रगामी यान्त्रिक पोतों के आविर्भाव से पहले वे मानते हैं, वह तो महाभारत के पहले भी थी । उस समय भी पालों की नावों से ही वर्षों महीनों में लोग गन्तव्य स्थानों पर पहुँचते थे ।

ऋग्वेद के भुज्यु की नाव की दुर्दशा वे लोग बताते ही हैं । ऋग्वेद के उस मन्त्र में ही ''मभृवा'' शब्द के द्वारा कहा गया है कि- जैसे कोई मरता हुआ प्राणी अपना धन छोड़ने के लिये विवश होता है, वैसे ही तुग्र ने अपने प्रिय पुत्र भुज्यु को समुद्रयात्रा के लिये विसर्जित किया । फिर क्या, उस समय नाव द्वारा, जहाज द्वारा समुद्र की यात्रा करना आत्महत्या को निमन्त्रण देना नहीं था ? फिर क्या उस समय स्मृतिकारों को कारणवलात् समुद्रनौयान का निषेध नहीं करना था ? केवल कलि में ही निषेध का कौन कारण उपस्थित हो गया ? फिर क्या त्रिकालज्ञ ऋषि लोगों को यह नहीं मालूम था कि तीन चार हजार वर्षों में ही तीव्रगामी यान्त्रिक पोत और वायुयान निकल आयेंगे ? ऐसी स्थिति में उन्होंने सारे कलियुग के लिये क्यों समुद्रयात्रा निषिद्ध की ? तीन चार सौ वर्ष के लिये ही समुद्रयात्रा का निषेध क्यों नहीं किया ?

''यावद्वर्णविभागः स्याद् यावद्वेदः प्रवर्त्तते ।

अग्निहोत्रञ्च संन्यासं तावत्कुर्यात् कलौयुगे ।।''

'जब तक वर्णविभाग और वेद का प्रचार रहे, तब तक संन्यास और अग्निहोत्र कलि में भी करना चाहिए' के समान ही यह क्यों नहीं लिखा कि जब तक यान्त्रिक नाव न प्रकट हो जाय, तब तक के लिये कलि में समुद्र द्वारा प्रत्यन्तगमन का निषेध है ।

महामना मालवीयजी, जिनके आदर्श पर आज विदेशयात्रासमर्थक चलने जा रहे हैं, उन्होंने प्रणवपूर्वक पंचाक्षर, अष्टाक्षर आदि मन्त्रों की दीक्षा चलायी थी । पंचमजनों के लिये मन्दिरप्रवेश, इतिहास-पुराणाध्ययन का विधान किया था । क्या यह सब भी शास्त्रीय दृष्टि से मान्य होगा ?

क्या जगद्गुरु श्रीभारतीकृष्ण तीर्थ, मालवीयजी, माधवाचार्य, प्रेमाचार्य आदि को पुराणकार ऋषियों का दर्जा मिल गया और क्या 'निवर्तितानि कार्याणि' इस पुराणवचन के समक्ष श्रीमाधवाचार्य का- ''प्रवर्तितानि कार्याणि व्यवस्थापूर्वकं बुधैः'' यह वचन कभी भी मान्य हो सकेगा ?

यदि माधवाचार्य ऐसा मान लेते हैं तो उन्हें मानना होगा कि अब तक गलत मार्ग पर थे ।

तब सनातनी कहे जाने वाले आज के विदेशयात्रासमर्थकों न मालवीयजी की बातों का विरोध क्यों किया था ?

श्रीमधुसूदन ओझाजी ने वेदों को पौरुषेय ऋषिकृत माना हैं । क्या आज के सनातनी नेता नामधारी विदेशयात्रासमर्थक विवेकानन्द तथा रामतीर्थ की वर्णव्यवस्था, स्पर्शास्पर्श, खानपान व्यवस्था तथा वेद के अधिकार अनाधिकार की व्यवस्था को प्रमाण मानते हैं ? क्या उनकी वेदपौरुषेयता को अङ्गीकार करते हैं ? यदि शास्त्रविरुद्ध होने से वह सब अमान्य है तो उनकी विलायतयात्रा भी वैसी ही समझिए ।

रामकृष्णमिशन के भी सिद्धान्तों एवं व्यवहारों से तो आज के (सनातनी) विदेशयात्रासमर्थक सहमत नहीं, पर विलायतयात्रा में उनके व्यवहार से वे लाभ उठाना चाहते हैं ।

जगद्गुरु श्रीभारतीकृष्ण तीर्थजी ने तो स्वयं ही अपने भाषण में स्पष्ट ही कहा है कि "मैं इस वृद्धावस्था में....अपनी परम्परा और प्रतिष्ठा को तिलाञ्जलि देकर भारत से सहस्रों कोश दूर बसे इस द्वीप में आया हूँ" (१३७ पृ. श्लो.) और यह माना ही जा रहा है कि बड़े से बड़े ऋषियों, आचार्यों के आचरण शास्त्रविरुद्ध होने पर आदरणीय नहीं होते, इसीलिए तैत्तिरीय उपनिषद् में आचार्य स्वयं कहते हैं- **"यान्यस्माकं सुचरितानि तानि त्वयोपास्यानि नो इतराणि"** 'जो हम आचार्यों के शास्त्रसम्मत सुचरित हैं, उन्हीं का आदर करना चाहिए, इतर शास्त्रविरुद्ध आचरण का नहीं ।' जब 'नान्त्यमियात्' प्रत्यक्ष श्रुति भारत से भिन्न द्वीपान्तरों को पाप्मा का आश्रय कहकर उनका संसर्ग निषिद्ध करती है, मनु भारत से भिन्न देशों को म्लेच्छ कहकर भारत में ही रहने का आग्रह करते हैं- **"एतान् द्विजातयो देशान् संश्रयेरन् प्रयत्नतः।"** और 'कलिवर्ज्य' प्रायश्चित् करने पर भी विदेश-यात्रियों की अग्राह्यता कहता है, तब फिर इसके अतिरिक्त- **"एतानि लोकगुप्त्यर्थं कलेरादौ महात्मभिः"** का आपने जो अर्थ किया है वह अशुद्ध है । कलिवर्ज्य के वचनों में समुद्रयात्रा का वर्जन नहीं है । समुद्रयात्रावर्जन तो **'नान्त्यमियात्'** इस श्रुति के आधार पर मन्वादि ने ही कर रखा है। कलिवर्ज्य में तो समुद्रयात्री की प्रायश्चित् करने पर भी कलि में ग्राह्यता वर्जित है ।

धर्म के अंकुश की उपेक्षा क्यों ?

विदेशयात्रासमर्थक लिखते हैं कि **"धार्मिक अंकुश लगा दिया ।"** (७७ पृ.लो.)

धार्मिक अंकुश भी झूठा नहीं होता, यदि ग्राह्यता अग्राह्यता केवल लौकिक हानि लाभ पर निर्भर है तब तो धर्म का प्रसङ्ग ही नहीं । फिर धार्मिक अंकुश लगा देने का क्या अर्थ हैं ।

क्या बिना शास्त्र के बड़े से बड़े विद्वान् नवीन धर्म का विधान कर सकते हैं? मनमानी धर्म का अंकुश लगा सकते हैं ? और यदि धर्म का अंकुश वास्तविक है तो क्या कोई उस अंकुश को हटाने में समर्थ हो सकता है ? यदि ऐसा हो, तब तो आधुनिक सुधारकों के इन मन्तव्यों को मान लिया जाय कि देशकाल के अनुसार धर्माधर्म बदलते रहते हैं । जैसे स्मृतिकारों ने अपने-अपने देशकाल के अनुसार धर्माधर्म बताये हैं वैसे ही हम लोगों को भी अधिकार है कि अपने देश काल के अनुसार हम लोग भी धर्माधर्म बतायें । ऐसी स्थिति में पुराने धर्मों से चिपके रहना क्या मूर्खता या कूपमण्डूकता नहीं हैं ?

सर्वत्र दृष्टार्थ की कल्पना असङ्गत

"नाकारणोऽस्ति शास्त्रेऽस्मिन्" इस भारत के पद्य में 'कारण' शब्द का क्या अर्थ है? यदि प्रयोजन अर्थ मानें तो कोई विरोध नहीं, क्योंकि किन्हीं भी धर्मों का अभ्युदय, निःश्रेयस प्रयोजन सभी आस्तिकों को मान्य ही है । उपादान कारण कहें तब भी सबका उपादान कारण ब्रह्म है ही । धर्माधर्म का अवान्तर उपादान कारण शास्त्र के अनुकूल-प्रतिकूल देहादि की हलचल ही मान्य है, वही निमित्त कारण भी है । यदि लौकिक निमित्त या दृष्ट प्रयोजन 'कारण' शब्द का अर्थ मानें तो यह सर्वथा शास्त्रविरुद्ध है, क्योंकि मनु ने मनमानी तर्क के आधार पर धर्मनिर्णय करने वाले को नास्तिक कोटि में ही माना है ।

उन्होंने कहा है-

"हैतुकान् बकवृत्तींश्च वाङ्मात्रेणापि नार्चयेत् ।।"

'हेतुकों एवं बकवृत्ति दाम्भिकों का वाणीमात्र से भी सत्कार नहीं करना चाहिए।'

"पुराणं मानवो धर्मः साङ्गो वेदश्चिकित्सितम् ।

आज्ञासिद्धानि चत्वारि न हन्तव्यानि हेतुभिः ।।"

इत्यादि वचनों से स्पष्ट है कि पुराण तथा मानवधर्म, साङ्गवेद तथा चिकित्साशास्त्र-चारों आज्ञासिद्ध सद्ग्रन्थ हैं । वेदादि विरुद्ध तर्कों से उनका हनन नहीं करना चाहिए । हाँ, बुद्ध्यारोहणार्थ मीमांसादि तर्कों का प्रयोग किया जा सकता है, जैसा कि मनु ने भी कहा ही है । वेदशास्त्र से अविरोधी तर्कों द्वारा जो आर्ष धर्मोपदेश का अनुसन्धान करता है वही धर्म को जानता है, अन्य नहीं-

"आर्षं धर्मोपदेशञ्च वेदशास्त्राविरोधिना ।

यस्तर्केणानुसंधत्ते स धर्मं वेद नेतरः ।।" (१२/१०६ मनु.)

वेदादि शास्त्रों का दृष्ट ही प्रयोजन है- ऐसा विचार मीमांसकों की दृष्टि से सर्वथा निन्द्य है । "विरोधे त्वनपेक्षं स्यादसति ह्यनुमानम् (जै.सू.) पर भट्टपाद कुमारिलस्वामी ने कहा है कि लौकायतिक मूर्खों का यही काम है कि वे अदृष्टार्थ वैदिक कर्मों का भी वायुशुद्धि आदि दृष्ट अर्थ बताते हैं । थोड़ा भी निमित्त पाकर वे विरोध उपास्थत करते हैं । यदि मीमांसकों न उनको अवसर दिया तो वे किसी भी धर्ममार्ग को नहीं छोड़ेंगे । मर्कट और पिशाच जब तक प्रसर नहीं पाते तभी तक हमला नहीं करते ।"

कहीं भी उन्हें अवसर दिया तो उनके मार्ग में स्वयं आया हुआ कौन जीवित रह सकता है । तस्मात् धर्मनाशनशाली लोकायतमतानुगामियों का मनोरथ मीमांसकों को पूरा नहीं करना चाहिए ।

"लौकायतिकमूर्खाणां नैवान्यत्कर्म विद्यते ।

यावात्किञ्चिददृष्टार्थं तद् दृष्टार्थं हि कुर्वते ।।

वैदिकान्यपि कर्माणि दृष्टार्थान्येव ते विदुः ।

अल्पेनापि निमित्तेन विरोधं योजयन्ति च ।

तेभ्यश्चेत्प्रसरो नाम दत्तो मीमांसकैः क्वचित् ।

न च कंचन मुञ्चेयुर्धर्ममार्गं हि ते तदा ।

प्रसरं न लभन्ते हि यावत्क्वचन मर्कटाः ।

नाभिद्रवन्ति ते तावत्पिशाचा वा स्वगोचरे ।।

कचिद्दत्तेऽवकाशे हि स्वोत्प्रेक्षालब्धधामभिः ।

जीवितुं लभते कस्तैस्तन्मार्गपतितः स्वयम् ।

तस्माल्लोकायतस्थानां धर्मनाशनशालिनाम् ।

एवं मीमांसकैः कार्य्यं न मनोरथपूरणम् ।।"

वैदिक वर्णाश्रमधर्म से विशिष्ट भूमि ही कर्मभूमि

कर्मभूमि, भोगभूमि का पूर्वपक्ष, उत्तरपक्ष निरर्थक ही है, क्योंकि प्रकृत में कर्मभूमि का वर्णाश्रमानुसारी श्रौतस्मार्त्तधर्मानुष्ठान की भूमि ही अर्थ है । प्रत्यन्त (म्लेच्छ देशों) में उनका अनुष्ठान नहीं हो सकता ।

इसीलिए- **"तत्रापि भारतमेव वर्षं कर्मक्षेत्रम्"** (श्री भा. ५/१७/११)

"वर्णाश्रमवतीभिर्भारतीभिः प्रजाभिः ।।" (५०/१६/१०)

"अहो अमीषां किमकारि शोभनम् ।

प्रसन्न एषां स्विदुत स्वयं हरिः ।

यैर्जन्म लब्धं नृषु भारताजिरे ।

मुकुन्दसेवौपयिकं स्पृहा हि नः ।।" (श्री. भा. ५/१६/११)

'भारतवर्ष ही कर्मक्षेत्र है । श्रीनारदजी ने वर्णाश्रमवती भारतीय प्राजाओं के द्वारा भागवतप्रोक्त सांख्ययोग के द्वारा भगवान् की आराधना कहीं है । देवता लोग कहते है कि भारतीय प्रजा ने कौन-सा पुण्य किया है अथवा भगवान् उन पर अपने आप प्रसन्न हो गये हैं, जिससे उन्होंने भारत में मानव-जन्म पाया है, जो कि मुकुन्दसेवा का उपायभूत है । हम लोगों को भी इसकी स्पृहा रहती है ।'

(२/३/२४- २५-२६) वि. पु. में कहा गया हैं-

"गायन्ति देवाः किल गीतकानि धन्यास्तु ये भारतभूमिभागे ।

स्वर्गावपर्गास्पदमार्गभूते भवन्ति भूयः पुरुषाः सुरस्वात् ।।"

देवता लोग भी भारतवासी लोगों की प्रशंसा करते हुए कहते हैं- 'जो देवता स्वर्ग एवं अपवर्ग प्राप्ति के मार्गभूत भारतभूमि में जन्म पाते हैं वे धन्य हैं ।'

"कर्माण्यसङ्कल्पिततत्फलानि

संन्नस्य विष्णौ परमात्मभूते ।

अवाप्य तां कर्ममहीमनन्ते,

तस्मिंल्लयं ते त्वमलाः प्रायान्ति ।।"

"जानीम नैत्यक्व वयं निलीनाः,

स्वर्गप्रदे कर्मणि देहबन्धम् ।

प्राप्स्याम धन्याः खलु ये मनुष्याः,

ये भारते नेन्द्रियविप्रहीनाः ।।"

'इस कर्मभूमि को प्राप्त कर कर्मफलों को भगवान् में अर्पित करके भगवत्पद को प्राप्त करने वाले धन्य हैं । हम लोग स्वर्ग पद समाप्त होने पर कहाँ जायँगे, यह तो नहीं मालूम, पर जो देव भारत में जन्म पा गये वे धन्य हैं ।'

विष्णुपुराण में कहा गया है कि हिमालय से लेकर दक्षिण समुद्र तक की भूमि भारतवर्ष है । वहीं भारतीय सन्तति रही है ।

"उत्तरं यत्समुद्रस्य हिमाद्रेश्चैव दक्षिणम् ।

वर्षं तद्भारतं नाम भारती यत्र संततिः ।।" (वि. पु. २।३।१)

वहीं आगे कहा है-

"इतः स्वर्गश्च मोक्षश्च मध्यश्चान्तश्च लभ्यते ।

न खल्वन्यत्र मर्त्यानां भूमौ कर्म विधीयते ।।" (२/३/५)

यहीं से सृष्टि और मोक्ष होता है । यहाँ से अन्यत्र भूमि में कर्म (वर्णाश्रमधर्म) का विधान नहीं है ।

"अत्रापि भारतं श्रेष्ठं जम्बूद्वीपे महामुने ।

यतो हि कर्मभूरेषा ह्यतोऽन्या भोगभूमयः ।।" (वि. पु. २/३/२२)

जम्बूद्वीप में भारत ही श्रेष्ठ है, क्योंकि यही वेदोक्त वर्णाश्रमधर्म की भूमि है। इससे अन्य भोगभूमियाँ हैं । वहाँ अर्थ-कामपरायण ही अधिक होते हैं । यद्यपि अहिंसा, सत्य, क्षमा, दया भगवद्भक्ति आदि सार्वत्रिक धर्म हैं, तथापि उक्त धर्मों में उनकी प्रवृत्ति नहीं जैसी है । इसी दृष्टि से भोगभूमि कहा गया है ।

"कर्मभूमिरियं स्वर्गमपवर्गञ्च गच्छताम् ।

नवयोजनसाहस्रो विस्तारोऽस्या महामुने ।।” (वि.पु. २।३।४)

“अतः सम्प्राप्यते स्वर्गो मुक्ति तस्मात्प्रयान्ति वै ।

तिर्यक्त्वं नरकञ्चापि यान्त्यतः पुरुषा मुने ।।” (वि. पु. २।३।४)

“ब्राह्मणाः क्षत्रिया वैश्या मध्ये शूद्राश्च भागशः ।

इज्यायुधवाणिज्याद्यैर्वर्त्तयन्ते व्यवस्थिताः ।।” (वि. पु. २/३/६)

वर्णाश्रमधर्म यहीं व्यवस्थित है । उक्त वचनों से स्पष्ट मालूम होता है कि भारतभूमि स्वभावतः पवित्र है । कर्मभूमि है, यज्ञिय देश है तद्भिन्न कर्मभूमि नहीं है, यज्ञिय देश नहीं है ।

“चार्तुवर्ण्यव्यवस्थानं यस्मिन् देशे न विद्यते ।

म्लेच्छदेशः स विज्ञेय आर्यावर्त्तस्ततः परः ।।” (वि. स्मृ. अ ८४)

‘जहाँ चातुर्वर्ण्यव्यवस्था नहीं होती, वह म्लेच्छ देश होता है । आर्यावर्त उससे भिन्न है ।’

उक्त वचन **“न जनमियात्”** - **“नान्त्यमियात”** इस श्रुति तथा **“कृष्णसारो मृगो यत्र चरति”** । **“म्लेच्छदेशस्त्वः परः”** **“एतान् द्विजातयो देशानाश्रयेरन प्रयत्नतः”** का व्याख्याभूत ही है ।

दया, क्षमा, अहिंसा, सत्य ईश्वरभक्ति, ईश्वर का तत्वज्ञान, ईश्वरनामोच्चारण- ये धर्म सार्वत्रिक हैं । इनसे लौकिक उन्नति के साथ पारलौकिक उन्नति और मोक्ष तक हो सकता है ।

धार्मिक व्यवस्था के सम्बन्ध में विपरित व्याख्या अनुचित

शास्त्र और धर्म बधिक तो नहीं है और नहीं उनसे नाकोंदम होता है, नहीं दम घुटने से मरना पड़ता है, फिर भी जैसे मीठी मिश्री भी पित्तरोग के कारण पित्तरोगी को तिक्त प्रतीत होती है, वैसे ही पापवासनादूषित अन्तःकरण वाले लोगों की धर्म, ब्रह्म तथा शास्त्रीय नियम से दम घुटना प्रतीत होता हैं-

“न मां दुष्कृतिनो मूढाः प्रपद्यन्ते नराधमाः ।

माययापहृतज्ञाना आसुरं भावमाश्रिताः ।।”

निष्पाप प्राणियों को भगवान् और उनके नियम अमृत ही प्रतीत होते हैं-

"येषां त्वन्तगतं पापं जनानां पुण्यकर्मणाम् ।

ते द्वन्द्वमोहनिर्मुक्ता भजन्ते मां दृढ़व्रताः ।।" (गीता)

काशी का विलायतसम्बन्धी मुकदमा

आगे काशी के मुकदमें की चर्चा करते हुए प्रौढ़िवाद के साथ लोग कहते हैं कि- "यह ठीक है- श्रीशिवकुमार शास्त्री, तात्याशास्त्री जैसे प्रसिद्ध विद्वानों ने समुद्रयात्रा को शास्त्रविरुद्ध प्रमाणित किया था और उन्होंने विलायत तक रेलगाड़ी चलने लगे, तब भी विलायत यात्रा करना निषिद्ध ठहराया था ।" उक्त दोनों महानुभाव धर्म के विशेषज्ञ भारत के प्रसिद्ध विद्वान् थे, पर जिन दिनों यह मुकदमा चला था, उन दिनों स्वेज नहर नहीं बनी थी । उस समय महीनों की यात्रा थी । वर्णाश्रमियों को विलायत यात्रा निरापद नहीं थी । सभी महाराजा जयपुर तथा मालवीयजी के समान गङ्गाजल और मिट्टी नहीं ले जा सकते थे, अतः समुद्रयात्रा का निषेध सकारण था ।

काश, उस समय वायुयान प्रचलित होता और उक्त विद्वद्वरेण्य सम्प्रति जीवित होते और उनसे पूछा जाता कि वायुयान में बैठकर चन्द घण्टों में विलायतयात्रा हो सकती है कि नहीं, तो वे महात्मा 'हां' में ही उत्तर देते, क्योंकि वायुयानयात्रा के निषेध का प्रमाण शास्त्रों में दृष्ट नहीं । वायुयानयात्रा के तो कई प्रमाण पीछे उद्धृत किये हैं।

वेदप्रमाण की विरुद्धता में जब तद्विरुद्ध स्मृति भी उपेक्षणीय होती है और व्यास के पुराण भी उपेक्षणीय होते हैं तब मुनिकल्प ही सही अमुक-अमुक विद्वानों के वचन जो कि मानहानि के मुकदमें में फँसे हुए कुछ सम्भ्रान्त व्यक्तियों को प्राणसंकट से छुड़ाने के लिए कहे गये थे, पत्थर की लकीर नहीं हो सकते । वे अधिक से अधिक **"नानृतं स्याज्जुगुप्सितम्"** के ही निदर्शन हो सकते हैं ।

(अर्थात् म. म. शिवकुमार शास्त्री तथा तात्याशास्त्री ने संभ्रान्त लोगों का प्राणसंकट छुड़ाने के लिए मिथ्या भाषण किया था, शास्त्र-विरुद्ध ही गवाही दी थी, पर प्राणसंकट से बचाने के लिये वह मिथ्या भाषण था) अथवा बुद्धावतारकृत वेदनिन्दा की भाँति सहेतुक होने से अनिन्द्य कहे जा सकते हैं, परन्तु प्रमाणभूत नहीं कहे जा सकते।

यह सब विदेशयात्रा समर्थन के अभिनिवेश में कहना दुःसाहस और धृष्टता मात्र है । विदेशयात्रासमर्थन में उद्धृत वेद-प्रमाण का समाधान पीछे कर दिया गया है।

म्लेच्छ-देशयात्रा ''नान्त्यमियात्'' ''न जनमियात्'' इत्यादि वेदों से ही विरुद्ध है, परमाप्त मन्वादि धर्मशास्त्रों, पुराणों तथा शिष्टाचारों से विरुद्ध है, यह पीछे स्पष्ट कह दिया गया है ।

बुद्ध के वचन और म.म. शिवकुमार शास्त्री आदि के वचन आप सहेतुक कहते हैं, पर आपकी दृष्टि में तो मनु आदि के वचन भी सहेतुक ही हैं ।

तभी तो **''एतान् द्विजातयो देशान्....म्लेच्छदेशस्त्वतः परः''**- आदि वचनों को तत्काल की परिस्थिति के अधीन कहते हैं, उन्हें भी सार्वकालिक नहीं मानते हैं, पर ऐसा मानना धृष्टता के अतिरिक्त कुछ नहीं है । वस्तुतः लौकिक हानि का त्याग शास्त्र का गौण विषय है । उक्त वेद, स्मृति, पुराण तथा कलिवर्ज्यप्रकरण दृष्ट हानि, लाभ की दृष्टि से नहीं हैं, किन्तु प्रत्यक्ष तथा अनुमान से अगम्य धर्म, ब्रह्मबोधन में ही उनका प्रमाण्य होता है । जैसे चक्षु से ही रूप का ज्ञान होता है अन्य श्रोत्रादि से नहीं, वैसे ही वेदादि शास्त्रों से ही धर्म, ब्रह्म का बोध होता है, प्रत्यक्ष तथा अनुमान से नहीं । सब स्थलों में प्रत्यक्षाभास तथा अनुमानाभास का प्रयोग चार्वाकों का ही कार्य है, आस्तिक का नहीं । लोक में भी कोई प्रत्यक्ष हानि-लाभ की दृष्टि से शास्त्रज्ञों एवं शास्त्रों से समाधान की अपेक्षा नहीं रखते । धर्म, ब्रह्म के सम्बन्ध में ही शास्त्रों एवं शास्त्रज्ञों का प्रामाण्य होता है । अन्वयव्यतिरेकादिसिद्ध भोजनादि प्रवृत्ति के अप्राप्त अंश में ही शास्त्रीय नियम सफल होते हैं । पाल की नावों में या यान्त्रिक नावों में क्या खतरा है, क्या सुविधा है, वायुयान में क्या सुविधा है, इस सम्बन्ध की जानकारी नाविकों, मल्लाहों या यान्त्रिक इंजीनियरों, भूगोलविशेषज्ञों से ही उचित परामर्श से प्राप्त हो जाती है । उसके लिये विदेशयात्रासमर्थकों की सलाह की अपेक्षा किसी को नहीं । उससे धर्म होगा या अधर्म होगा, परलोक बनेगा या बिगड़ेगा इसी सम्बन्ध में शास्त्रों एवं शास्त्रज्ञों का परामर्श अपेक्षित होता है । इसी सम्बन्ध में उस समय के विद्वन्मूर्धन्य म.म. शिवकुमार शास्त्री एवं तात्याशास्त्री की गवाहियाँ हुई थी । गङ्गानाथ झा आदि सुधारक पण्डित विलायतयात्रा को धर्मविरुद्ध कह रहे थे । काशी के सभी शास्त्रप्रामाण्यवादी कट्टर सनातनी पण्डित विलायतयात्रा को वेदशास्त्रविरुद्ध कह रहे थे।

वे वर्तमान विदेशयात्रासमर्थकों से कहीं अधिक विद्वान् और वेदज्ञ थे । उनकी धर्मनिष्ठा भी स्तुत्य थी । वे तार्किक भी आज के लोगों से कहीं अधिक थे । अतः उनकी गवाही को मिथ्या भाषण और वेदविरुद्ध कहना धृष्टता मात्र है ।

सदा ही धर्माधर्म की व्यवस्था के सम्बन्ध में काशास्थ विद्वानों की सम्मति माँगी जाती रही है । कुछ नगण्य लोग लोभ-मोहवशात् अन्यथा भी सम्मति देते रहे

हैं, परन्तु शास्त्रप्रामाण्यवादी मूर्धन्य विद्वानों से सदा ही निष्पक्ष शास्त्रीयपक्ष ही रखा है। सहेतुक मिथ्या भाषण तो सीधे-सीधे विदेशयात्रा समर्थक लोग ही कर रहे हैं और वह स्वार्थमूलक अजुगुप्सित और अनिन्द्य भी नहीं कहा जा सकता । यह स्पष्ट है कि **''नान्त्यमियात्'' ''न जनमियात्''** आदि निषेधों तथा परम्परा उल्लङ्घन कर म्लेच्छ देश की यात्रा क्षुद्र स्वार्थवश स्वयं या अपने संतान के द्वारा कर लेने के अनन्तर उसी के समर्थन में यह सब अर्थ का अनर्थ किया जा रहा है और सम्बन्धित शास्त्रीय वचनों की दृष्टार्थता के वर्णन का प्रयास किया जा रहा है।

'धर्मे प्रमीयमाणे हि वेदेन करणात्मना ।

इतिकर्त्तव्यताभागं मीमांसा पूरयिष्यति ।।'

अर्थात् वेदरूपी करण (प्रमाण) से धर्म की प्रमा होने में (पूजितविचाररूपा द्वादशलक्षणी मीमांसा) इतिकर्त्तव्यता भाग से करती है । 'धर्म केन जानीयात्' इस कारणाकाङ्क्षा की पूर्ति वेद से हो जाती हैं । 'वेदेन कथं धर्मं जानीयात्' यह इतिकर्त्तव्यता की आकाङ्क्षा मीमांसा पूर्ण होती है- ''द्वादशलक्षण्या मीमांसया वेदं विचार्य्य धर्मं जानीयात्" (द्वादशलक्षणी मीमांसा से वेद का विचार करके धर्म जाने) । वेदशास्त्र प्रसङ्ग में वेदविरोधी तर्कों का प्रयोग करनेवाला हैतुक कहा गया है-

''पाखण्डिनो विकर्मस्थान् वैडालव्रतिकाञ्छठान् ।

हैतुकान् वकवृत्तींश्च वाङ्मात्रेणापि नार्चयेत् ।।'' (मनु.)

अर्थात् वेदवाह्य विकर्मस्थ (प्रतिषिद्ध वृत्तिजीवी) वैडालि वकवृत्ति तथा हैतुक (सर्वत्र हेतुवाद का डङ्का पीटने-वालों) का वाङ्मात्र भी अर्चन नहीं करना चाहिए ।

अध्यवस्थित मत

वस्तुतः विदेशयात्रा के समर्थक पद-पद पर परस्पर विरुद्ध प्रतिज्ञा व प्रतिज्ञासंन्यास करते हैं । पहले तो वे घोषणा करते हैं कि हिन्दु पतित होता ही नहीं, जो कि अत्यन्त शास्त्रविरुद्ध है । अनेक आचार्यों का चित्र और नाम तथा उनके आशीर्वादों का दुरुपयोग करते हुये अपनी और पुत्र आदि की विलायतयात्रा को सिद्ध करने का प्रयास करते हैं । पहले वे समुद्रयात्रा को वेदशास्त्रसम्मत कहते हैं, पीछे बैधायनवचनों के अनुसार निषिद्ध भी मानते हैं और उत्तर देशवासियों के लिये शिष्टाचार से क्षम्य भी स्वीकार करते हैं । अर्थात् दाक्षिणात्यों के लिये निषिद्ध ही मान लेते हैं ।

'नान्त्यमियात्' श्रुति से पहले पापिष्ठ व्यक्ति एवं उससे अधिष्ठित भूमि का ही संसर्ग निषिद्ध उन लोगों ने माना । आगे चलकर **'नान्त्यमियात्'** श्रुति से प्रत्येक ग्राम नगर के दक्षिणभागनिवासी अन्त्यजों की भूमि का संसर्ग निषेध मान लिया। पहले उन्होंने कलिवर्ज्य वचनों को दुर्बल कहने की चेष्टा की, पीछे कलि के आदिमकाल में उनकी सार्थकता भी मान ली और यान्त्रिक युग प्रारम्भ होते ही कलिवर्ज्य की निवृत्ति के स्थान में प्रवृत्ति मान ली । अन्ततः समुद्रनाव द्वारा प्रत्यन्तगमन को अपना पक्ष न रखकर 'खपथा' वायुयान से समुद्रयात्रा का पक्ष रखा। इस तरह पूर्ण विरोधिता मानने की हिम्मत विदेशयात्रासमर्थकों की नहीं हुयी और अपने किसी सगे सम्बन्धी के विलायट से लौटने पर जैसा-तैसा प्रायश्चित्त भी किया।

विदेशयात्रासमर्थक कुछ विद्वानों की अधूरी एवं मतविशेषानुसारिणी संमति से भी स्वाभीष्टसिद्धि का प्रयत्न करते हैं । उस मत के अनुसार भी (जो कि वस्तुतः खण्डित है) विलायत में भूमि खरीद कर उसे मार्जन, दहन, प्लावन, कालातिक्रमण, गोक्रमण, खनन, पुरणाभिवर्षणादि संस्कारों से शुद्ध करने पर ही उस भूमि में सन्ध्या, भोजनादि किया जा सकता है अन्यथा सामान्यभूमि में सन्ध्यादि करने से पाप ही होता है । साथ ही उस सम्मत्ति के अनुसार भी द्वीपान्तर म्लेच्छभूमि है, पर उन दृष्टि में तो द्वीपान्तर म्लेच्छ देश ही नहीं । प्रत्येक देश में ही पापी पुरुषों से अधिष्ठित भूमि ही म्लेच्छ देश है, देशविशेष नहीं । इसके अतिरिक्त उस सम्मति के अनुसार दशविध संस्कार वाली विलायत की भूमि में सन्ध्या, भोजन आदि करने वाला भी प्रथम मत वाले के लिये अव्यवहार्य्य ही होगा, पर इस बात की उपेक्षा ही की गयी है।

क्या विदेशयात्रा के समर्थक विदेश में जहाँ-जहाँ जाते हैं, वहाँ की भूमि का संस्कार करके ही भोजन आदि करते हैं ? यदि ऐसा नहीं है, तो क्या वे उक्त मतानुसार भी प्रायश्चित्त के योग्य नहीं हुए ?

मनु आदि के उपदेश व्यापक

वेद, मन्वादि धर्मशास्त्रों की आज्ञाएँ व्यापक हैं । उनका किसी देश, काल के लिए संकोच करना बिना किसी विशेष प्रमाण के सम्भव नहीं हैं, अतः

"वृषलत्वं गता लोके ब्राह्मणादर्शनेन च" (१०/४३)

"पौण्ड्राकाश्चौड्रद्रविणाः काम्बोजा यावनाः शकाः ।

पारदाः पह्लवाश्चीनाः किराता दरदाः खशाः ।।" (१०/४४)

के अनुसार मनूक्त पौण्ड्रकादि क्षत्रिय जाति स्वर्णयुग बीत जाने पर अवनतियुग अर्थात् महाभारतसंग्राम के पश्चात् ब्राह्मणों के अदर्शन से धर्महीन हो गये। यह मत सर्वथा ही असंगत है । महाभारत तथा वाल्मिकिरामायण तथा वेदों में भी मनु एवं उनकी स्मृति की चर्चा विद्यमान है । मनुस्मृति को मनु के शासनकाल का संविधान माना ही गया है ।

ब्राह्मणादर्शन से इन जातियों की वृषलता महाभारतसंग्राम के बाद हुई यह कहना असंगत ही है । मनुस्मृति मनुशासनकाल का संविधान होने पर भी **"म्लेच्छदेशस्त्वतः परः" "एतान् द्विजातयो देशानाश्रयेरन् प्रयत्नतः"** इत्यादि मनूपदेश मनुकाल के लिए ही नहीं किन्तु सभी काल के लिए ही मान्य हैं, अतः आज भी वह उपदेश ज्यों का त्यों है ।

सनातन मान्यताओं पर कुठाराघात

"नान्त्यमियात्" इत्यादि श्रुति का अर्थ ही मनुस्मृति का मूल है, अतः मनु के विपरीत श्रुति का अर्थ करने का प्रयास भी निरर्थक ही है ।

विदेशयात्रासमर्थक तो 'सिंधु, सौवीर, सौराष्ट्र आदि देशों में जाने से प्रायश्चित्त करना चाहिए' - एतद्बोधक देवलादि स्मृतियों की सम्प्रति अमान्य बतलाकर भी सनातन मान्यताओं पर कुठाराघात ही कर रहे हैं ।

उदारवाद के नाम पर सुधारवाद

धर्मशास्त्र के उदार नियम एवं युगभेद से धर्मभेद की व्यवस्था से भी विलायतयात्रा की वैधता या अनिषिद्धता नहीं सिद्ध की जा सकती है । युगभेद से स्मृतिभेद मान्य होने पर भी मन्वादि का महत्व सर्वदा अक्षुण्ण ही रहेगा ।

भगवन्नाम तथा गङ्गाजल का लोकोत्तर महत्व मानने पर भी विदेशयात्रासमर्थक गङ्गाजल से शुद्ध श्वा, सूकर द्वारा स्पृष्ट भोजन खाने की हिम्मत नहीं कर सकते है। इसी तरह वे गङ्गास्नान, भगवन्नाम से भी 'शोधितस्याप्यसंग्रहः' इस कलिवर्ज्य का बाध नहीं कर सकेंगे ।

कलिवर्ज्य प्रकरण की दुर्बलता सिद्ध करने का विदेशयात्रासमर्थकों का प्रयास भी निरर्थक है । बृहन्नारदीय आदि की महापुराण द्वारा प्रामाणिकता दिखायी जा चुकी है। समुद्रयायी एवं यातृ शब्द का अर्थान्तरकरण का प्रयत्न भी निस्सार सिद्ध हो गया है । सुरापान के समान ही समुद्रयान द्वारा प्रत्यन्तगमन भी उत्तर का शिष्टाचार नहीं कहा जा सकता ।

यदि सीधुपान शब्द का 'अनिषिद्ध मादक द्रव्य' अर्थ किया जा सकता है तो समुद्रयान का भी तीर्थयात्रार्थ समुद्रयात्रा अर्थ किया जा सकता है । इसके अतिरिक्त उत्तर के शिष्टाचार के बल से उसकी ग्राह्यता स्वीकार करने पर तो सुतरां उसकी शास्त्रविरुद्धता ही सिद्ध होती है । तभी तो शास्त्रविरुद्ध मातुलकन्योद्वाह को शिष्टाचार के बल से दाक्षिणात्य ग्राह्य मानते हैं और ऐसा मानने पर भी दाक्षिणात्यों के लिये तो समुद्रयाननिषेध विदेशयात्रासमर्थकों को भी मानना ही पड़ेगा, परन्तु उत्तर में मातुलकन्योद्वाह जैसा सुरापान समुद्रयान शिष्टाचार है ही नहीं । यह तो अत्यन्त उत्तर-कहीं उत्तराखण्ड में ही मान्य हो सकता है ।

काशी के मुकदमे और महोपाध्याय श्रीशिवकुमार शास्त्री आदि की समुद्रयात्रा के विरुद्ध सम्मति पर विदेशयात्रासमर्थकों की टीका केवल साहस मात्र है । वह अपने बिल जैसे छिद्र को न देखकर दूसरों के सर्षप तुल्य छिद्र देखने के तुल्य ही है। पण्डितजी ने रेल-मार्ग हो जाने पर भी विलायत यात्रा को निषिद्ध कहा था तो वायुयानयात्रा के विषय में प्रश्न करने पर भी वे अवश्य ही उसे निषिद्ध कहते, क्योंकि समुद्री नाव, रेलगाड़ी, वायुयान का स्वतः निषेध नहीं है, वह तो प्रत्यन्त गमन का ही निषेध है । अतः समुद्रयायी का अर्थ कुल्लूक भट्ट ने समुद्रयान द्वारा प्रत्यन्त गमन ही किया है । सुतरां वायुयान द्वारा भी विलायतयात्रा निषिद्ध ही है । जिस तरह 'काकेभ्यो दधि रक्ष्यताम्' इस वचन में काक शब्द दधि के उपघातक मार्जार, श्वान आदि का भी बोधक होता है । तथाच- 'काक, मजरि आदि से दधि की रक्षा करो' यही उक्त वाक्य का अर्थ है ।

'वेदाविनाशिनं नित्यं य एनमजमव्ययम् ।

कथं सः पुरुषः पार्थ! कं घातयति हन्ति कम् ।।'

'जो अविनाशी, नित्य, अज, अव्यय आत्मा को जानता है, वह कैसे किसी को मरवा सकता है ? कैसे किसी को मार सकता है ?'- यहाँ पर 'घातयति' 'हन्ति'

ये दोनों पद 'कारयति' 'करोति' क्रियामात्र के उपलक्षण माने जाते हैं, क्योंकि 'नित्यत्व' 'अव्ययत्व' हेतु क्रियामात्र के अभाव में समान हैं और ''सृष्टीरुपदधाति'' में सृष्टि पद सृष्टि, असृष्टि संज्ञा वाली दोनों प्रकार की इष्टिकाओं का उपलक्षण है, उसी तरह प्रत्यन्तगमनसाधन नौका, रेल, वायुयान आदि सभी का उपलक्षण ही ''नौयातुः'' का ''नौ'' शब्द है ।

पुनः संस्कार

पुनः संस्कार या शुद्धि तो शास्त्रमर्यादानुसार शास्त्रप्रामाण्यवादी सनातनियों को मान्य ही है, पर परिष्कृत आधुनिक सनातनी पंजाबसनातनधर्मप्रतिनिधि सभा आदिकों तथा अन्य सुधारकों का अन्धानुकरण इस सम्बन्ध में करना आश्चर्यजनक है।

बौद्धों का संस्कार

बौद्धों का संस्कार किया यह ठीक है, परन्तु बौद्धों का वैदिकों से अधिकांश मतभेद दार्शनिक ही था । खान-पान, विवाद आदि आचारों एवं दायभाग आदि के सम्बन्ध में उनकी कोई स्वतन्त्र संहिता नहीं थी । प्रायः मन्वादि धर्मशास्त्रों के अनुसार ही उनके भी आचार-विचार चलते थे । जैसे-आर्यसमाजी कर्मणा वर्णव्यवस्था का शास्त्रार्थ करते हुए भी व्यवहारतः कल तक जन्मना ही वर्णों में खान-पान, विवाह आदि करते रहे हैं । कुछ कट्टरपंथी समाजियों को छोड़कर अब भी जन्मना वर्णों में ही विवाह आदि करते हैं । जैनी भी कर्मणा वर्ण-व्यवस्था की बात करते हैं, परन्तु विवाह, खान-पान आदि उनका भी जन्मना स्वजाति में ही होता है ।

बौद्ध कुछ प्रगतिशील अवश्य थे, पर आचार-संस्कार की अलग संहिता न होने के कारण इस सम्बन्ध में मन्वादि का ही अनुकरण वे करते थे । विवाह, अन्त्येष्टि आदि हिन्दुओं जैसे उनमें भी होते थे । गोमांस भक्षण आदि का भी प्रसंग उनमें नहीं था, अतः उनकी पूर्व जाति दुर्ज्ञेय नहीं थी । कुछ प्रायश्चित्त द्वारा उनका संस्कार सुगम था, पर जिन ईसाई, मुसलमानों का आचार सर्वथा हिन्दु-शास्त्रों के विरुद्ध है, उनमें मिल जाने के बाद पूर्व जाति का ज्ञान असम्भव ही है ।

भविष्यपुराणोक्त शुद्धियों का अभिप्राय

भविष्यपुराण का प्रतिसर्गखण्ड कितना प्रामाणिक है, इस पर यद्यपि सनातनियों में ऐकमत्य नहीं है, फिर भी श्रीरामानन्द, नित्यानन्द, निम्बादित्य, विष्णुस्वामी, मध्वाचार्य, शङ्कराचार्य, रामानुजाचार्य, वराह मिहिराचार्य, कबीरदास आदि ने मुसलमानों को वैष्णव या शैव बना लिया द्य इसमें सनातनी शास्त्रों का कोई विरोध नहीं है, क्योंकि किसी का भी शिव, विष्णु का भजन करना, तिलक कण्ठी पहनना, शिखा रखना, गङ्गास्नान करना, मन्दिर का शिखरदर्शन करना शास्त्रसम्मत ही है । हां, किसी ईसाई या मुसलमान को ब्राह्मण, क्षत्रिय बनाकर उसे वेदादि अध्ययन एवं तदनुसारी कर्म करने का अधिकार प्रदान करना या जन्मना ब्राह्मणादि के साथ रोटी-बेटी आदि का व्यवहार करना अवश्य ही शास्त्रविरुद्ध है ।

तुलसीदास जी के-

"श्वपच शबर खश यवन जड़ पामर कोल किरात ।

राम कहत पावन परम होत भुवन विख्यात ।।"

"आभीर यवन किरात खश श्वपचादि अति अघरूप जे ।

कहि नाम वारेक तेऽपि पावन होत राम नमामि ते ।।"

इन वचनों का तो धर्मशास्त्रों में कोई विरोध है ही नहीं, क्योंकि इनसे उनका पवित्र और कल्याणभागी होना ही कहा गया है । यह नहीं कहा गया है कि वे सब ब्राह्मण, क्षत्रिय होकर वैदिक अग्निहोत्रादि करने लगे या ब्राह्मणादि उनके साथ रोटी-बेटी करने लगे ।

सुना है, आज भी कोई आचार्य सभी ईसाई, मुसलमान आदि के लिए हिन्दुधर्म का दरवाजा खुला बतलाते हैं, पर यदि इसका इतना ही अर्थ है कि हिन्दुधर्म में गृहीत जन्मना ईसाई मुसलमानों की भी एक हिन्दु-श्रेणी हो और वे अहिंसा, सत्य, भक्ति आदि कर्म का अनुष्ठान करे, आपस में ही रोटी-बेटी का व्यवहार करे, तब तो ठीक ही है, परन्तु यदि हिन्दुधर्म में दीक्षित जन्मना ईसाई मुसलमान आदि को जन्मना ब्राह्मण, क्षत्रियों में मिलाकर उन्हें वेदाध्ययन और वेदोक्त अग्निहोत्रादिकर्मों में अधिकार प्रदान करना है और जन्मना ब्राह्मणादि से रोटी-बेटी का सम्बन्ध करने से भी मान्य है, तो यह सर्वथा शास्त्रविरुद्ध है । जो भी वैसा कहता है उसका वह कथन शास्त्रसम्मत तो

है ही नहीं । इस पर मैं और मेरे साथी सदा ही शास्त्रार्थ के लिए प्रस्तुत हैं और रहेंगे ।

भगवद्भक्तों की पावनता

'ज्ञानी भगवद्भक्त वैष्णव अपनी दृष्टि तथा सत्तामात्र से सम्पूर्ण विश्व को पवित्र कर देता है' इसका अर्थ यही है कि उन्हें सद्गति के योग्य बना देता है ।

प्रारब्धकर्मफल की समाप्ति के अनन्तर जैसे श्वाद भी थोड़े ही दिनों में (एक दो जन्मों के बाद) ही द्विजाती जन्म पाकर सवनार्ह हो जाता है, वैसे ही ज्ञानियों, भक्तों के अनुग्रहपात्र म्लेच्छादि भी भगवत्पद प्राप्ति योग्य हो जाते हैं, प्रारब्धान्त में भगवत्पद प्राप्त कर लेते हैं । अतएव सम्पूर्ण विश्व के मानव भगवन्नाम तथा भगवद्भक्ति से भगवत्पदप्राप्ति के अधिकारी हो सकते हैं ।

शास्त्रविरुद्ध इतिहास धर्म में प्रमाण नहीं

अलबत्ता बाजीराव मुसलमान बनकर बादशाह की लड़की से शादी कर अपनी जागीर पर आया, शिवाजी ने अपने धर्माचार्य्यो से प्रायश्चित्तपूर्वक पुनः संस्कार कराकर उसे वधू सहित हिन्दुधर्म ग्रहण करा दिया, यह अवश्य विचारणीय है। बाजीराव का संस्कार कराकर पूर्व रूप में आ सकना तो अवश्य संभव है । एक जन्मना मुस्लिम लड़की का भी हिन्दु होकर रामनाम आदि जप करते हुए भगवद्भक्ति करके मुक्त हो जाना तो संभव है, परन्तु उसका ब्राह्मणी या क्षत्रियाणी बनकर पति के साथ वैदिक धर्म में सम्मिलित होना तो सर्वथा शास्त्रविरुद्ध ही है, क्योंकि वैदिक अग्निहोत्रादि कर्मों में जन्मना ब्राह्मणादि का ही अधिकार है यह निश्चप्रच है । यदि बाजीराव की मस्तानी भोगस्त्रीमात्र रही तो उतनी आपत्ति नहीं । तभी तो उससे उत्पन्न सन्तान का नाम भी शमशेर बहादुर लिखा गया है, यह साङ्कर्य्य का ही सूचक नाम है ।

यही स्थिति इतिहास संग्रह मराठी पत्रिका के उदाहृत फ्रेंच ईसाइयों द्वारा डरा धमकाकर बनाये गये ईसाइयों तथा दादूजी के द्वारा ५२ मुसलमानों की शुद्धि के सम्बन्ध में समझनी चाहिए (८७ पृ. लो.) ।

‘‘साँभर का शाही काजी दादूजी के उपदेश से हिन्दु हो गया । गरीबदास बनकर वही उनका उत्तराधिकारी हुआ ।’’ (८७ पृ.)

यह बात भी वर्णाश्रमातीत लोगों में मान्य ही है, क्योंकि उनके अनुसार- ‘‘हरि को भजे सो हरि का होय, जात-पात पूछे नहिं कोय’’ का सिद्धांत ही चलता है, परन्तु गरीबदास ब्राह्मण, क्षत्रिय होकर जन्मना ब्राह्मणादि के साथ खान-पान तथा विवाह का अधिकारी तो नहीं हो सकता था ।

पण्डितराज जगन्नाथ

रसगङ्गाधर के निर्माता पण्डितराज जगन्नाथ के सम्बन्ध में जो कुछ कहा जाता है, उसे उसी रूप में मान लेने पर भी यह अतिस्पष्ट है कि स्वयं पण्डितराज जगन्नाथ ने अपने कृत्य की वैधता के समर्थन का कभी भी प्रयत्न नहीं किया था । उन्हें वर्तमान प्रचलित इतिहास के अनुसार समाज ने भी जातिबहिष्कृत ही रखा था ।

शास्त्रानुकूल इतिहास की ही सम्मति आदरणीय

‘उदयपुर के महाराणा रावल का मुसलमान राजकुमारी से विवाह हुआ । उसकी सन्तान प्रसिद्ध सूर्यवंशी क्षत्रिय है । मारवाड़ के राजा रामपाल ने बदला चुकाने के लिए ६ सौ मुस्लिम औरतों को छीनकर युद्ध करके हिंदु सैनिकों से शादी कर दिया। मल्लिनाथ के ज्येष्ठ कुँवर जगमल ने बादशाह की लड़की गींदोली को अपनी पत्नी बना लिया ।’ इत्यादि घटनाओं का भी समाधान उपर्युक्त ही है । घटनाएँ धर्म में प्रमाण नहीं होती है यह कहा ही जा चुका है ।

‘‘सोलहवीं शताब्दी में जैसलमेर के राजा जीतसिंह ने काशी के पण्डितों को बुलाकर पुनः संस्कार का बड़ा यज्ञ रचा । अवमृथस्नान के समय धर्मान्तरित सब क्षत्रिय को पुनः संस्कार द्वारा अपनी-अपनी जाति मेम प्रविष्ट किया गया ।’’

इस कथन पर भी यह जान लेना चाहिए कि शास्त्र के अनुसार ही काशीस्थ विद्वानों की मान्यता होती है । वे ही शास्त्र अब भी है । छल छद्म से अथवा बलात् धर्मान्तरित होने पर कुछ सीमित काल के भीतर शास्त्रोक्त प्रायश्चित्तों से शुद्धि होती

ही है । वैसी शुद्धि तो ठीक है, अन्यथा शुद्धि द्वारा हिन्दु हो जाने पर भी श्रेणीभेद होना अनिवार्य है । उनका जन्मना ब्राह्मण-क्षत्रियादि के साथ रोटी-बेटी का सम्बन्ध असङ्गत ही है ।

संसार का किसी भी जाति का कोई भी प्राणी श्रीमद्भागवत्प्रोक्त त्रिश्ल्लक्षणवान् धर्म का पालन करता हुआ हिन्दु हो सकता है, राम, कृष्ण नाम या नमोऽन्त श्रीशिवायनमः, श्रीरामायनमः आदि मन्त्र का जप कर भक्ति एवं तत्वज्ञान प्राप्तकर परम् कल्याण का भागी हो सकता है । हरिदास, रसखान आदि सब इसी कोटि के वैष्णव थे ।

रणवीर प्रायश्चित्त तथा भारतधर्ममहामण्डल की व्यवस्थाएं शास्त्रविरुद्ध नहीं, पर उनके द्वारा पूर्वोक्त मुस्लिम स्त्रियों एवं पुरुषों को ब्राह्मणादि बन जाना सिद्ध नहीं होता है ।

वङ्गीय ब्राह्मणसभा की व्यवस्था का भी इतना ही अर्थ है कि बलात् भ्रष्ट या धर्मान्तरित स्त्री को प्रायश्चित्त कराकर अपने समाज में ले लेना चाहिए, उसका अपने घर में रखकर रक्षण करना चाहिए ।

यह अर्थ कथमपि नहीं है कि वह शुद्ध पत्नीकोटि में रहकर शुद्ध ब्राह्मणादि सन्तान उत्पन्न कर सकेगी । भोग और धर्म में ऐसे लोगों का ग्रहण शास्त्रविरुद्ध ही है । काशीस्थ पण्डितसभा की व्यवस्था का भी यही अर्थ है ।

कुशकाशावलम्बन

कुछ लोग 'देशाटन' 'पण्डितमित्रता' के आधार पर प्रत्यन्तभ्रमण का समर्थन करना चाहते हैं, परन्तु क्या भारत के विभिन्न देशों में भ्रमण से भी देशाटनवचन सार्थक नहीं हो जाता है ? इसी तरह

"एकदा नारदो योगी परानुग्रहकाङ्क्षया ।

पर्य्यटन् विविधान्लोकान् मर्त्यलोकमुपागतः ।।"

'परानुग्रहकामना से नारदजी विभिन्न लोकों का भ्रमण करते थे'- के आधार पर कुछ लोग म्लेच्छदेशयात्रा का समर्थन करना चाहते हैं । कहना न होगा कि यह

सब कुशकाशावलम्बन से अतिरिक्त और कुछ नहीं है । कारण स्पष्ट है- सिद्ध पुरुष ईश्वर एवं देवताओं के तुल्य होते हैं । वे मानवसामान्य के विधिनिषेधात्मक शास्त्रों के गोचर नहीं होते हैं । इसी कोटि में कण्व एवं व्यास का मिश्र आदि देशों में आना तथा नारद का सार्वत्रिक भ्रमण हो सकता है ।

इसी तरह विष्णु का वामनरूप धारण करके पाताल-अमरीका में जाना, वराह भगवान् का अमरीका में जाकर हिरण्याक्ष का वध करना, श्रीराम का लङ्का में जाकर रावण का वध करना, श्रीकृष्ण का समुद्र के मध्य में द्वारका का निर्माण करना इत्यादि से भी प्रत्यन्तयात्रा सिद्ध करने का प्रयास करना व्यर्थ है, क्योंकि अन्य युगों में प्रायश्चित्त से ग्राह्यता हो ही सकती थी ।

क्या पुराणों का पाताल अमरीका ही है ? पुराणों के पाताल का लक्षण उसमें संगत होता है ? महर्षि पाराशर के आवास का किसी द्वीप में अनुमान करना भी निराधार ही है, क्योंकि यमुनातट पर कालपी स्थान में व्यास की जन्मभूमि प्रसिद्ध है, अतः यमुनापार करने के लिये ही उन्हें नाव की अपेक्षा पड़ी थी, समुद्रयात्रा के लिए नहीं ।

राष्ट्रधर्मसमर्थनप्रयास धर्मद्रोह

बौद्ध-आक्रमण और वर्णव्यवस्था के ह्रास की चर्चा करते हुए विदेशयात्रा समर्थक कहते हैं कि ‘‘बौद्ध के आक्रमण के पूर्व भारत में चार वर्ण, ३६ प्रकार के वर्णसङ्कर ही निवास करते थे, परन्तु आद्य शङ्कराचार्य ने सावित्री पतित भारतीय उत्तरोत्तर अधिक पतित न हो जाय इसके लिये उन्हें आजिविकाश्रित जातियों के रूप में प्रतिष्ठित कर दिया । वे अपने समान आजीविकावालों से ही रोटी-बेटी का व्यवहार करते हुए जीवननिर्वाह करने लगे । सो विदेशी शक, हूण भी उन्हीं जातियों में समा गये । साम्प्रतिक राजपूत, जाट, गूजर, अहीर, काछी, कुर्मी, रेड्डी, नायर आदि प्रसिद्ध जातियाँ इसी कोटि की हैं ।’’ (५३-५६ पृ. लो.)

वस्तुतः एक बार जब आधुनिकों की पद्धति पकड़ ली जाती है तो उससे छुटकारा मिलना कठिन ही होता है । आधुनिक सुधारक भी तो यही कहते हैं कि ‘शक, हूण आदि विदेशी जातियाँ आर्यों में मिल गयी है, अतः कोई भी आज शुद्ध

रक्त का नहीं है । ऐसी स्थिति में ब्राह्मण आदि का अभिमान करना व्यर्थ ही है ।' उपर्युक्त बातें कहकर विदेशयात्रासमर्थक सनातनी नामधारियों ने भी उनकी बातों को अंशतः मान ही लिया है । वर्त्तमान राजपूतों को भी उसी कोटि में मान लिया है, न जाने क्यों ब्राह्मणों को छोड़ दिया ? इस तरह यदि रक्तसाङ्कर्यरहित ब्राह्मणादि नहीं रहेंगे तो जन्मना वर्णमूलक वैदिक धर्म भी कैसे सुरक्षित रह सकेगा ? पं.ज्वालाप्रसाद आदिकों ने तो अपने ''जातिभास्कर'' आदि ग्रंथों में उक्त जातियों का प्रामाणिक रूप बतलाया है । परम्परा ये जैसे वेद का स्वरूप निर्धारित होता है, वैसे ही ब्राह्मणादि जातियों का भी परम्परा के अनुसार ही निर्णय होता है । जहाँ वर्णाश्रमव्यवस्था होती है वहाँ अन्य का सन्निवेश सम्भव नहीं होता है- विवाह तथा स्त्रीरक्षार्थ यत्नाधिक्य तथा भोजन पानादि नियम ही ब्राह्मणादि जाति शुद्धि एवं रक्तशुद्धि का मूल है । रक्तशुद्धिमूलक जन्मना वर्णव्यवस्था के आधार पर ही वेदाध्ययन एवं वैदिक धर्मानुष्ठान सम्भव होता है ।

बौद्धों में वर्णव्यवस्था का तिरस्कार था, वहीं जिस किसी का प्रवेश सम्भव था । शक, हूण आदि का बौद्धों में ही प्रवेश सम्भव था । वर्णव्यवस्था के अभाव में ही बौद्धों ने इस्लामधर्म स्वीकार कर लिया । यही कारण है कि पश्चिमी पञ्जाब व बङ्गाल में मुस्लिम संख्या का विस्तार हुआ । उत्तर-प्रदेश आदि में जहाँ-जहाँ वर्णव्यवस्था दृढ थी, वहाँ मुस्लिम शासन होने पर भी मुस्लिम संख्या नहीं बढी । हिन्दु-धर्म में तो सदा से ही साङ्कर्य से बचने का प्रयास रहा है । पतितों का संशोधन करके भी उन्हें श्रेणीभेद करके ही रखा गया था । जैसे चारों वर्णों के साङ्कर्य से ३६ जातियाँ हुई, वैसे ही ३६ जातियों में भी साङ्कर्य से अन्य जातियाँ उत्पन्न हुई है । जाति सम्बन्धी ग्रन्थों में यह उल्लेख मिलता ही है । अतएव यह कहना भी ठीक नहीं कि ईसाई मुसलमानों को हजम करना असम्भव था । इसलिए तात्कालिक हमारे पुरुखाओं ने बहिष्कार का मार्ग अपनाया । (४५ पृ. लो.), क्योंकि जाति बहिष्कार की नीति शास्त्रीय ही मार्ग है, नया मार्ग नहीं । अनेक स्थानों मे 'ब्राह्मण्यादेव हीयते' इत्यादि शास्त्रोक्तियाँ हैं ही । व्यवहार में भी कोई भी संस्था यदि सदस्यों की संख्या बढाने के मोह में अपने नियम में शिथिलता करती है तो वह जीवित नहीं रह सकती है । इतना अवश्य हमें समझ लेना चाहिए कि इस बहिष्कार का यह भी अर्थ नहीं था कि उनको हिन्दु जाति से ही निकाल दिया जाता था । किन्तु विशिष्ट नियमों के उल्लङ्घन करने और उचित प्रायश्चित्त न करने के कारण पतित लोग अपनी पूर्व की

मुख्य श्रेणी से हटाकर अन्य श्रेणी में रख दिये जाते थे । वहाँ भी उनके कुछ धर्म एवं आचार-विचार रहते थे । अतएव पतित हिन्दु भी हिन्दुजाति से कभी भी पृथक् नहीं किये गये । अगर प्रलोभन या दबाव में आकर उन्होंने अन्य धर्म ग्रहण कर लिया तो यह तो ब्राह्मणादिकों में भी हुआ ही है। अनेक ब्राह्मण भी, विद्वान भी, जो बहिष्कृत नहीं किये गये थे, वे भी प्रलोभनवशात् ईसाई आदि अन्य धर्मों में प्रविष्ट हुये ही हैं । अतएव आज के छियालीस करोड़ में पतित अपतित सभी हिन्दु हैं । ''पतित से भिन्न छियालिस करोड़ बच गये हैं'' (५४ पृ.) यह कल्पना शुद्ध भ्रान्ति है ।

यह जो कहा जाता है- ''देश-विदेश के सभी प्रकार के हिन्दु आचारवान्, आचारहीन, विशुद्ध वर्णाश्रमी तथा वर्णान्तरीय विवाहादि करने वाले अनुलोम सङ्कर तथा अन्य जातियों से शादी करने वाले तथा प्रतिलोम विवाह करने वाले सभी हिन्दुओं का सार्वभौम सङ्घटन होना चाहिए ।'' (५१-५६ पृ.) - यह सब ठीक है । यह कोई नयी बात नहीं है । हिन्दु में सबका अन्तर्भाव है ही । उनका सङ्घटन आवश्यक है । विश्वहिन्दुपरिषद् आदि ऐसे कईं संघठन चल भी रहे हैं, पर उन संघठनों में मूल हिन्दु-शास्त्र एवं मूल हिन्दु-धर्म तथा वर्णाश्रमी शुद्ध हिन्दु को मिटा देने या सबको ही सङ्कर बना देने का जी तोड़ प्रयत्न चल रहा है, यह उचित नहीं है ।

उदारता के नाम पर **''वसन् वा यत्र कुत्रापि स्वाचारं न विसर्जयेत्''** से विलायत यात्रा को जायज सिद्ध करने का ही प्रयत्न किया गया है । यह ठीक है कि ११३१ शाखात्मक वेद, मन्वादि धर्मशास्त्र, षड्दर्शन, पुराण, रामायण, महाभारत हिन्दु धर्म के निर्णायिक हैं, इतना ही क्यों तंत्र और आगम तथा प्राकृत भाषामय हनुमानचालीसा तक हिन्दुओं के धर्मग्रन्थ हैं । वेद के अविरुद्ध पुराणादि तथा वेदादि से अविरुद्ध सदाचार भी शिष्टाचारानुमित स्मृति के अनुसार मान्य होता है ।

विदेशयात्रासमर्थकः-

''कृते तु मानवो धर्मस्त्रेतायां गौतमः स्मृतः ।

द्वापरे शङ्खलिखितो कलौ पाराशराः स्मृताः ।।

अन्ये कृतयुगे धर्मस्त्रेतायां द्वापरेऽपरे ।

अन्ये कलियुगे नृणाम् ....।

सर्वे धर्माः कृते जाताः सर्वे नष्टाः कलौ युगे ।। (पाराशरस्मृति १/२४/२२/१६)

के आधार पर लिखते हैं कि सत्ययुग में मनुप्रोक्त धर्म, त्रैता में गौतम निर्दिष्ट धर्म, द्वापर में शङ्खलिखित तथा कलि में पाराशर प्रोक्त धर्म पालनीय है । कृतयुग में अन्य धर्म, कलियुग में अन्य धर्म एवं सत्ययुग में समस्त धर्म उत्पन्न हुए। कलियुग में सब शिथिल हो गये, पर यह कथन उन्हीं के निम्नोक्त कथन से विरुद्ध है । ''स्मृतियाँ अनेक है, परन्तु मनुस्मृति सर्वोपरि है । तद्विरुद्ध कोई भी स्मृतिवाक्य मान्य नहीं ।'' (५८ पृ.)

अतएव यह कहना असंगत ही होगा कि मानवधर्म त्रैता या कलियुग में मान्य नहीं होता । इसलिए मिताक्षरादि निबंधग्रन्थ सभी स्मृतियों का समन्वय ही करते हैं । सभी स्मृतियाँ सर्वदा के लिए प्रमाण है । 'कृत में मानवधर्म, त्रैता में गौतम, द्वापर में शङ्खलिखित तथा कलि में पराशर की व्यवस्था विशेष रूप से मान्य है' - यही उक्त वचनों का तात्पर्य है । 'कृतयुग में अन्य, कलियुग में अन्य धर्म है'- यह भी कथन युग विशेष के विशिष्ट धर्मों के ही सम्बन्ध में है । तभी तो आज भी कहना पड़ता है कि मनुविरुद्ध कोई भी वचन कभी भी प्रमाण नहीं है ।

''या वेदवाह्याः स्मृतयो याश्च काश्च कुदृष्टयः ।

सर्वास्ता निष्फलाः प्रेत्य तमोनिष्ठा हि ताः स्मृताः ।। '' (२१/६५)

''मन्वर्थविपरीता तु या स्मृतिः सा न शस्यते ।''

मन्वर्थविपरीत कोई भी स्मृति आदरणीय नहीं है । धर्म सब अनादि हैं, कृतयुग में उनका पालन अधिक होता है, कलियुग में पालन नहीं किया जाता है- यही उनके उत्पत्ति तथा नाश का अभिप्राय है ।

विदेशयात्रासमर्थन में लोग कहते हैं- युगों के अनुरूप मानवों की शक्ति होती है । सत्ययुग में अस्थिगत प्राण थे, त्रैता में मांस में, द्वापर में रुधिर में और कलियुग में अन्न में प्राण है ।

''कृते स्वस्थिगताः प्राणस्त्रेतायां मांसमाश्रिताः ।

द्वापरे रुधिर यावत्कलावन्नादिषु स्थिताः ।।'' (पाराशर १/३)

इसलिए-

''ब्रह्महा मद्यपस्तेनस्तथैव गुरुतल्पगः ।

एते महापातकिनो यश्च तैः सह संवसेत् ।।"

ब्रह्महत्यारा, मद्यपायी, चोर (चोरमात्र नहीं किन्तु ब्रह्मस्वापहारी या स्वर्ण चोर), गुरुभार्यागामी और इनके साथ संवास करने वाले महापातकी होते हैं । सत्ययुग में पांचो समान पापी माने जाते थे । कलियुग में अपराध करने वाले चार ही पापी माने जाते हैं, उनका संसर्गी प्रायश्चित्तार्ह नहीं होता ।

"कृते सम्भाषणादेव त्रैतायां स्पर्शनेन च ।

द्वापरे त्वन्नमादाय कलौ पतति कर्मणा ।।"

सत्ययुग में महापातकियों से भाषण से, त्रैता में स्पर्श से, द्वापर में अन्न खाने से और कलि में कर्म से ही पतन होता है, परन्तु इसका इतना ही अर्थ है कि संसर्गी ब्रह्माध्न के तुल्य पतित नहीं होता, किन्तु ब्रह्माध्न का स्पृष्ट अन्न आदि खाने से पाप तो कलि में भी होता ही है । यह कथन भी-

"त्येजेद्देशं कृतयुगे त्रैतायां ग्राममुत्सृजेत् ।।

द्वापरे कुलमेकं तु कर्त्तारं तु कलौ युगे ।।" (पराशर १/२५)

'कृतयुग में पाप करने से देश का त्याग, त्रैता में ग्रामत्याग, द्वापर में कुल त्याग एवं कलि में कर्त्ता का ही त्याग होता है ।'

मनु के अनुसार शुद्रशासित राज्य में न रहें, अधार्मिकजनों एवं पाखण्डिगणों से आक्रान्त तथा अन्त्यजनों से उपस्पृष्ट क्षेत्र में निवास न करें, परन्तु कलियुग में इस बन्धन को ढ़ीला करते हुए त्रिकालज्ञ ऋषियों ने घोषणा की कि जहाँ कहीं भी निवास करता हुआ मनुष्य अपने आचरण का त्याग न करे -

'वसन्वा यत्र कुत्रापि स्वाचारं न विसर्जयेत् ।'

निःसीम नहीं है, अतः उनका यह अर्थ नहीं है कि श्रुत्यादि निषिद्ध म्लेच्छदेशों में स्वेच्छा से जाकर निवास करे या ब्रह्मध्न आदि का संसर्ग त्याज्य नहीं है । हाँ, लाचारी से जहाँ कहीं भी रहे, वहाँ यथासम्भव अपने धर्म का पालन करता रहे । भगवान् का नाम जप, ध्यान तो जहाँ कहीं भी किया जा सकता है ।

"शूद्रराज्येपि निवसेद्यत्र मध्ये तु जाह्ववी ।

सौपि पुण्यतमो देशोऽनार्य्यैरपि समाश्रितः ।।"

(सनातनधर्मोद्धारे चतुर्थखण्डे १२०६ पृ.)

इत्यादि वचनों द्वारा गङ्गा के संसर्ग से शूद्रराज्य में भी निवास विहित है । शास्त्रों में उत्सर्ग-अपवाद-न्याय मान्य होता ही है । कोई भी आर्षवचन निरवकाश होकर अपवाद होता है । उत्सर्ग की प्रवृत्ति उससे अतिरिक्त विषय में सङ्कुचित हो जाती है- **"प्रकल्प्यापवादविषयमुत्सर्गो निविशते"** 'अपवाद के विषय को प्रकल्पित करके उत्सर्ग प्रवृत्त होता है' ।

आगे विदेशयात्रासमर्थक कहते हैं- "जब राज्य सबको सबकुछ करने की छूट देता है, तब वर्णाश्रमियों को अपने से निम्न वर्णों के कर्मों से भी जीविका निर्वारह कर लेना चाहिए, पर श्ववृत्ति अर्थात् गुलाम बनकर आजीविका नहीं करनी चाहिए, पर यहाँ भी यह ध्यान रखना चाहिए कि आपद्धर्म स्थायी नहीं होते । यदि उनका छोड़ना सम्भव होने पर भी प्राणी रागादिवशात् नहीं छोड़ता तो आगे चलकर वह प्राणी उसी जाति का ही हो जायगा, जैसा कि याज्ञवल्क्य ने कहा है--

जात्युत्कर्षो युगे ज्ञेयः सप्तमे पञ्चमेंऽपि वा ।

व्यत्यये कर्मणां साम्यं पूर्ववच्चाधरोत्तरम् ।।

(याज्ञवल्क्य स्मृति आ. ९६)

सप्तम, पञ्चम अपि शब्दात् षष्ठ जन्म मे, मूर्धावसिक्तादि जातियों का उत्कर्ष ब्राह्मणत्वादि जाति के रूप में होता है । वा शब्द के अनुसार यहाँ विकल्प व्यवस्थित है । व्यवस्था निम्नोक्त प्रकार की है । ब्राह्मण द्वारा विवाहिता शूद्रा कन्या में उत्पादिता कन्या निषादी होगी । वह निषादी कन्या भी यदि किसी ब्राह्मण से ही विवाहित होकर पुत्री उत्पन्न करे और वह पुत्री भी ब्राह्मण से ही विवाहित होकर अन्य पुत्री ही उत्पन्न करे । इस प्रकार ब्राह्मण से ही उत्पादित षष्ठी कन्या सप्तम ब्राह्मण पुत्र उत्पन्न करती है । इसी प्रकार ब्राह्मण से विवाहिता वैश्यानी अम्बष्ठा कन्या उत्पन्न करेगी । वह भी ब्राह्मण से ही ब्याही जाय और वह भी कन्या ही उत्पन्न करे तो इस परम्परा से पञ्चमी कन्या ब्राह्मण से विवाहित होकर षष्ठ ब्राह्मण पुत्र उत्पन्न करेगी ।

ब्राह्मण से विवाहित क्षत्रिय कन्या मूर्धावसिक्ता कन्या उत्पन्न करती है, वह कन्या से ब्राह्मण से विवाहिता होकर कन्या ही उत्पन्न करे, इस तरह चतुर्थी कन्या पञ्चम ब्राह्मणपुत्र उत्पन्न करती है ।

इसी प्रकार उग्रा कन्या क्षत्रिय से विवाहिता होकर माहिष्या कन्या उत्पन्न करेगी, वह यथाक्रम षष्ठी कन्या पंचम क्षत्रिय पुत्र उत्पन्न करेगी । करणी कन्या वैश्य से विवाहित होकर कन्या ही पैदा करे तो इस क्रम से चतुर्थी कन्या पंचम वैश्य पुत्र को उत्पन्न करेगी ।

ऐसे ही वृत्यर्थ कर्मों में व्यत्यास होने पर ब्राह्मणादि अपकर्ष को प्राप्त होते हैं। ब्राह्मण अपनी मुख्य वृत्ति से जीविका न करता हुआ क्षत्रिय की जीविका से जीवन चलाता है, उससे भी निर्वाह न होने पर वैश्यवृत्ति से और वैश्यवृत्ति से भी जीविका न चल सके तो शूद्रवृत्ति से जीविका चलाता है ।

इसी तरह क्षत्रिय भी स्ववृत्ति से जीवन न चला सकने पर वैश्यवृत्ति एवं शूद्रवृत्ति से जीवन चलाता है । वैश्य भी स्ववृत्ति से जीवन न चलाकर शूद्रवृत्ति से जीवन चलाता है, परन्तु यदि आपत्ति बीत जाने पर भी उस वृत्ति का परित्याग नहीं करता तो सप्तम, षष्ठ एवं पञ्चम जन्म में जिस वर्ण की वृत्ति से जीवन चलाता है, तत्समान जाति का ही हो जाता है ।

उदाहरण के रूप में यों समझा जा सकता है- ब्राह्मण शूद्रवृत्ति से जीविका चलाता हुआ यदि उसका परित्याग न करता हुआ पुत्र उत्पन्न करे और वह पुत्र भी उसी जीविका से निर्वाह करता हुआ पुत्र उत्पन्न करे तो इस परम्परा से षष्ठ पुत्र सप्तम शूद्रपुत्र उत्पन्न करेगा ।

वैश्यवृत्ति से जीवन चलाता हुआ पारम्पर्य्येण षष्ठ वैश्यपुत्र उत्पन्न करेगा ।

क्षत्रियवृत्ति से जीवन चलाता हुआ ब्राह्मण यदि उसका त्याग न कर पुत्र उत्पन्न करे और वह पुत्र भी उसी वृत्ति से जीवन चलाता हुआ पुत्र उत्पन्न करे तो इस क्रम से पंचम क्षत्रिय पुत्र ही उत्पन्न करेगा । क्षत्रिय शूद्रवृत्ति से जीविका चलाता हुआ षष्ठ जन्म में शूद्र, वैश्यवृत्ति से पंचम जन्म में वैश्यपुत्र उत्पन्न करेगा । वैश्य भी शूद्रवृत्ति से जीविका चलाता हुआ यदि उसका त्याग न करता हुआ पुत्र उत्पन्न करे और वह भी वैसा ही करे तो पंचम शूद्रपुत्र उत्पन्न करेगा ।

दास या गुलाम प्रथा तो अब समाप्त हो गयी है, परन्तु नौकरीपेशा ही श्ववृत्ति मानी जाती है, जिसे कि अधिकांश वर्णाश्रमी भी अपनाये हुए हैं ।

विदेशयात्रासमर्थक लिखते हैं-

"न चापि शूद्रः पततीति निश्चयो

न चापि संस्कारमिहार्हतीति वा ।

श्रुतिप्रवृत्तं न च धर्ममाप्नुते ।

न चास्य धर्मे प्रतिषेधनं कृतम् ।।" (महाभा. शा. २६६/२७)

"शूद्र कभी भी पतित नहीं होता । वह संस्कारों का अधिकारी नहीं है । वेदप्रतिपाद्य कठिन धर्मों का प्रतिपाद्य उस पर नहीं है । धर्माचरण में उसके लिए कोई रुकावट नहीं है ।" पर यहाँ भी उक्त बातें निरपेक्ष नहीं हैं, क्योंकि प्रणवोच्चारण, होम, कपिलाक्षीरपान, शालग्रामशीलार्चन एवं वेदाक्षरविचार से शूद्र का भी पतन होता है । पञ्चगव्यपान भी उसके लिए वर्ज्य है ।

"प्रणवोच्चारणाद्धोमात् शालग्रामशिलार्चनात् ।

वेदाक्षरविचाराच्च शूद्रश्चाण्डालतामियात् ।।"

कपिलाक्षीरपानच्च.....................।

न शूद्रे पादक कञ्चित् न च संस्कारमर्हति ।"

इस मनुवचन में कुल्लूकभट्ट ने स्पष्ट कहा है कि लशुनादिभक्षण से शूद्र को पातक नहीं होता । ब्रह्महत्यादि से तो पातक होता ही है ।

विदेशयात्रासमर्थक कहते हैं --

'वैदेह! कं शूद्रमुदाहरन्ति द्विजा महाराज! श्रुतोपन्नाः ।

अहं हि पश्यामि नरेन्द्रदेव! विश्वस्य विष्णुं जगतः प्रधानम् ।।'

वेदज्ञ ब्राह्मण शूद्र को ब्रह्मा का रूप कहते हैं, परन्तु मैं तो उसे जगत् का प्रधान विष्णु के तुल्य ही देखता हूं ।

"जात्या दुष्टश्च यः पापं न करोति सः पुरुषः ।

जात्या प्रधानं पुरुषं कुर्वाणं कर्म धिक्कृतम् ।।" (म. भा. शा. ३३-३४)

'जाति से दुष्ट होकर भी जो पाप नहीं करता **व**ह पुरुष श्रेष्ठ है, परन्तु जो जाति से प्रधान होने पर भी पाप करता है वह धिक्कार योग्य है । जनक, तुलाधार, विदुर, धर्मव्याध आदि की आदरणीयता प्रसिद्ध ही है ।' यह ठीक ही है, वस्तुतः इन वाक्यों का अभिप्राय निम्नोक्त है ।

"विकर्मावस्थिता वर्णाः पतन्ते नृपते त्रयः ।

उन्नमन्ति यथासन्तमाश्रित्येह स्वकर्मसु ।।" (म. भा. शा. २६६/२६)

अत्र नीलकण्ठः-

'विकर्म निषिद्धं कर्म । स्वकर्मसु सन्तं नरमाश्रित्य वर्णाः सत्वादिगुणाजाः उन्नमन्ति।।"

(विकर्म में अवस्थित तीनों वर्ण पतित हो जाते हैं । स्वकर्म में स्थित नर का आश्रय करके सत्वादि गुण जनित वर्णादि उन्नति को प्राप्त होते हैं ।)

"न चापि शूद्रः पततीति निश्चयो,

न चापि संस्कारमिहार्हतीति वा ।

श्रुतिप्रवृत्तँ न च धर्ममाप्नुते,

न चास्य धर्मे प्रतिषेधनं कृतम् ।।" (म. भा. शा. २६६/२७)

अत्र नीलकण्ठः-

'संस्कारार्हो हि तदभावे पतेत् ।

नत्वयं तथेत्यथः ।

धर्मे आनृशंस्यादौ स्यात्............।'

लशुनादिभक्षण से शुद्र पतित नहीं होता, वेदाध्ययन, ब्रह्महत्यादि से तो पतित होता ही है । उपनयनादि संस्कार के योग्य ही उन संस्कारों के अभाव में पतित होता है । श्रुतिप्रवृत्त अग्निहोत्रादि का भी वह अधिकारी नहीं होता, फिर भी आनृशंस्यादि धर्म में उसका प्रतिषेध नहीं है ।

ते यथा तत्रैव-

"आनृशस्यमहिंसा चाप्रमादः संविभागिता ।

श्राद्धकर्मातिथेयञ्च सत्यमक्रोध एव च ।।२३।।

स्वेषु दारेषु सन्तोषः शौचं नित्यानसूयता ।

आत्मज्ञानं तितिक्षा च धर्माः साधारणा नृप ।।५४।।

आनृशंस्य, अहिंसा, अप्रमाद, संविभाग (दान), श्राद्ध, आतिथ्य, सत्य, अक्रोध, स्वदार-सन्तोष, शौच, अनसूयता, आत्मज्ञान, तितिक्षा ये साधारण धर्म है । इनमें शूद्र का भी अधिकार है ।

"वैदेह कं शूद्रमुदाहरन्ति द्विजा महाराज श्रुतोपपन्नाः ।

अहं हि पश्यामि नरेन्द्र देवं विश्वस्य विष्णु जगतः प्रधानम् ।।"

(म.भा.शा.प. २६६/२८)

अत्र नीलकण्ठः-

हे वैदेह द्विजाः! शूद्रं कं प्रजापतिं ब्राह्मणतुल्यमाहुः

अहं तु तं विष्णु क्षत्रियतुल्यं पश्यामि ।

ब्रह्मविष्णू हि ब्राह्मणक्षत्रियौ ।

यथोक्तं द्रोणपर्वणि द्रोणं प्रकृत्य-

"ब्रह्मकल्पोभवद् ब्राह्मे क्षात्रे नारायणोपमः ।" इति प्राञ्चः ।

वस्तुतस्तु ये स्थूलं शरीरं त्यक्तवा लिङ्गमेवात्मत्वेन प्रतिपन्नास्ते विदेहाः । ये तु स्थूलसूक्ष्मे त्यक्तवा प्रधानाख्यं कारणमात्मत्वेन प्रतिपन्नास्ते प्रकृतिलयास्त्रयमतिक्रान्ता ब्राह्मणाः । आद्यस्य मुक्तिर्जन्मद्वयेन व्यवहिता । द्वितीयस्य एकेन । तृतीयस्य सद्य एवं सति द्विजाः शूद्रवैदेहकं विदेहेषु विदितं प्राहुः शूद्रो विट्क्षत्रजन्मनी प्राप्य ब्राह्मणो भवतीत्यर्थः। स्वमते तु स प्रधान अतएव एकं जन्म प्राप्य मुच्यते इति ।

हे वैदेह! द्विज लोग शूद्रों को कं(प्रजापति) ब्राह्मण के तुल्य कहते हैं । परन्तु मैं शूद्र को विष्णु क्षत्रिय तुल्य मानता हूँ । यहाँ ब्रह्म विष्णु का ब्राह्मण क्षत्रिय ही अर्थ है । द्रोणपर्व में द्रोण के ही प्रसङ्ग में कहा गया है कि-

"ब्रह्मकल्पोऽभवद् ब्राह्मे क्षात्रे नारायणोपमः ।"

नीलकण्ठ के अनुसार जो स्थूलदेह से अतिरिक्त लिंगशरीर में आत्माभिमान करते हैं, वे विदेह हैं । जो स्थूल-सूक्ष्म देहाभिमान छोड़कर प्रधानाख्य कारण शरीर में अभिमान करने वाले हैं वे प्रकृतिलय को प्राप्त होते हैं । तीनों देहों में अभिमान न करने वाले ब्राह्मण होते हैं । पहले की अनेक जन्म के बाद मुक्ति होती है, दूसरे की एक जन्म के ही बाद, तीसरे की सद्यः मुक्ति होती है । इस तरह द्विज लोग शूद्र को वैदेहक कहते हैं । वह वैश्य क्षत्रिय जन्म प्राप्त करके ब्राह्मण होता है । परन्तु मेरे मत में तो वह प्रधान अर्थात् प्रकृतिरूप है । अतः एक ही जन्म के बाद मुक्त हो जाता है।

"न शूद्रे पातकं किञ्चिन्न च संस्कारमर्हति ।

नास्याधिकारो धर्मेऽस्ति न धर्नात्प्रतिषेधनम् ।।"

कुल्लूकभट्ट अनुसार लशुनादि भक्षण से शूद्र को कोई पाप नहीं लगता, किन्तु ब्रह्मवधादि से तो पाप उसे भी लगता ही है, क्योंकि अहिंसादि धर्म चारों ही वर्णों के लिए विहित है । उपनयनादि संस्कार शूद्र के लिए विहित नहीं है । अग्निहोत्रादि धर्म में भी शूद्र का अधिकार नहीं है क्योंकि उसके लिए वैसा विधान नहीं है । परन्तु इस शूद्र के लिए पाकयज्ञादि धर्म का तो विधान है ही । नमस्कार मन्त्र से पञ्चयज्ञ का भी विधान शूद्र के लिए है-

"नमस्कारेण मन्त्रेण पञ्च यज्ञान्न हापयेत् ।" (या. स्मृति ५/१२१)

आगे दुष्कर्मों के प्रायश्चित्त के प्रसङ्ग से कहा जाता है- "भृगुपतन, महाप्रस्थान, मरणान्त व्रत आदि कलि में वर्जित हैं ।" परन्तु यह कलिवर्ज्यप्रकरण मानने से ही सम्भव होगा । पराक, चान्द्रायणादि व्रत तो आज भी आस्तिकजन करते ही हैं । देश, काल अवस्था और शक्ति के अनुसार तो प्रायश्चित्तों का विधान है ही।

शुद्धि एवं प्रायश्चित्त के सम्बन्ध में गम्भीरता के साथ साङ्गोपाङ्ग विचार आवश्यक

विदेशयात्रासमर्थक कहते हैं-

देशं कालं वयः शक्तिं पापञ्चावेक्ष्य यत्नतः ।

प्रायश्चित्तं प्रकल्प्यं स्याद्यत्र चोक्ता न निष्कृतिः ।। (याज्ञवल्क्य स्मृति ३/२६४)

जिस पाप के सम्बन्ध में प्रायश्चित्त का स्पष्ट उल्लेख न हों, वहाँ देश, काल, आयु और यत्नपूर्वक पाप को देखकर प्रायश्चित्त का निर्णय (कल्पना) करना चाहिए ।

शरीरस्यात्यये प्राप्ते वदन्ति नियमांस्तु ये ।

महत्कार्योपरोधेन तत्पापं तेषु गच्छति ।।

दुर्बलेऽनुग्रहः प्रोक्तस्तथा वै बालवृद्धयोः ।

ततोऽन्यथाभवेद्दोषस्तस्मान्नानुग्रहः स्मृतः ।।

ब्राह्मणा जङ्गमं तीर्थं तोर्थभूता ही साधवः ।

तेषां वाक्योदकेनैव शुद्धयन्ति मालिना जनाः ।।

(स्मृतेमुक्ताफले, श्राद्धकाण्डे पाराशरः)

अर्थात् कोई जब संकट में पड़ा हो ऐसे आड़े वक्त में जो भी विद्वान् (लकीर के फकीर बनकर) प्रायश्चित्त के कठिन नियमों को बनाते हैं, तब शरीर धारण जैसे महान् कार्य का निरोध होने के कारण वह (दोष) प्रायश्चित्त बताने वालों को लगता है।

''दुर्बल, बालक, वृद्ध सदैव अनुग्रह के पात्र होते हैं । अनुग्रह के विपरीत उनको उत्पीड़ित करना पाप होता है । ब्राह्मण जङ्गम तीर्थ, साधु-जन भी तीर्थरूप होते हैं । उनके वचनरूपी जल से ही महापापी भी शुद्ध हो जाते हैं ।''

(५२-५३-५४ लोकालोक)

परन्तु इसका यह अभिप्राय नहीं है कि कोई मनमानी अनुग्रह दृष्टि से प्रायश्चित्त बता दे, क्योंकि धर्मशास्त्रों में यह भी नियम है कि शास्त्र के अनुसार ही प्रायश्चित्त बतलाना चाहिए ।

प्रायश्चित्तं चिकित्साञ्च ज्योतिषं धर्मनिर्णयम् ।

विना शास्त्रेण यो ब्रूयात्तमाहूर्ब्रह्मघातकम् ।। (शूद्रकमलाकरे)

जो शास्त्रप्रमाण के बिना प्रायश्चित्त आदि का उपदेश करता है, वह ब्रह्मघातक होता है । विदेशयात्रासमर्थन में लोग कहते हैं- ''जाति, बन्धु और ब्राह्मणों की कृपा से शुद्धि होती है -

अङ्गीकारेण जातीनां ब्राह्मणानुग्रहेण च ।

पूयन्ते तत्र पापिष्ठा महापातकिनोऽपि ये । (अत्रिस्मृति २७४)

जात बिरादरी के पंचों के अङ्गीकार से और ब्राह्मणों के अनुग्रह से बड़े से बड़े पाप भी शुद्ध हो जाते हैं । गङ्गोदकपान से शुद्धि -

तुलसीदलसंमिश्रमपि सर्षपमात्रकम् ।

गङ्गाजलं पुनात्येव कुलानामेकविंशतिम् ।। (नारद)

सरसों के बराबर तुलसीदल सहित गङ्गाजल पान करने से २१ पीढियाँ पवित्र हो जाती है । यदि विदेशों में गङ्गोदक दुर्लभ हो तो गोमूत्र या शालग्राम की वा नर्मदेश्वर का चरणोदक पान करना चाहिए । ध्यान रहे भगवन्नामस्मरण और गङ्गा, तुलसी आदि के सम्बन्ध में जो महात्म्य वर्णित है, उसे अर्थवाद या सत्कर्मप्रवृत्यर्थ रोचक वाक्य मानना अक्षम्य अपराध है । उक्त कृत्यों से केवल पारलौकिक शुद्धि ही होती है, किन्तु एहलौकिक ग्राह्यनता न होगी-- ऐसी कल्पना भी न केवल निराधार ही है अपितु निन्द्य पाप भी है ।'' (६५ पृ. लो.)

आधुनिक सुधारक भी यही कहते हैं जो अपने को सनातनी मानने वाले विदेशयात्रासमर्थक कह रहे हैं । उनका भी तो यही कहना है कि जन्मना मुसलमान, अङ्ग्रेज किसी को भी गङ्गाजल पिला दो, भगवन्नामोच्चारण करवा दो, बस फिर तो वे शुद्ध हिन्दु हो ही जायेंगे । फिर उनसे रोटी-बेटी का भी परहेज क्यों करना चाहिए।

अपने को सनातनी मानने वाले विदेशयात्रासमर्थक भी मानते हैं कि- 'सभी देशों में भारत के ब्राह्मण, क्षत्रिय आदि ही तो गये हैं । फिर तो गोमांस आदि खाया है तो भी भगवन्नाम से गङ्गाजल से उन्हें छूमन्तर के साथ हिन्दु बना लें, जन्मनावर्णव्यवस्था के गोरखधन्धे का पिण्ड क्यों नहीं छोड़ते ? और फिर तो ''शोधितस्याप्यसङ्ग्रहः''- विलायतयात्रा के प्रायश्चित्त करने पर भी जातिग्राह्यता नहीं होती- इत्यादि कलिवर्ज्यवचन अपने आप समाप्त हो जायेंगे । अनायास ही उनकी विदेशयात्रासमर्थित हो जायेगी, परन्तु सनातनी नामधारी विदेशयात्रासमर्थकों की उक्त

व्यवस्थाएं किन्हीं भी विद्वान को मान्य नहीं है तभी तो श्रीशङ्कराचार्य आदि विद्वानों ने द्वीपान्तरप्रयाण को सर्वथा निषिद्ध ठहराया है । इसी तरह उनके अनुसार तो – **"श्वादोऽपि सद्यः सवानाय कल्पते"** भगवन्नाम से चाण्डाल भी तत्काल ज्योतिष्टोमादि का अधिकारी द्विजाति हो जाता है ।' फिर तो सीधे चाण्डालों को ब्राह्मण बनाकर वे लोग वेद पढाये, यज्ञ कराये और सरकार के भी कृपापात्र बन जायँ । आधुनिक बिरादरी एवं उनके साथी ब्राह्मणों का समर्थन उनको मिल ही जायगा ।

मेरा अधूरा लेख छापकर पूरा लेख बिना पढे यह कहनें का साहस नहीं करना चाहिए कि ऐहलौकिक ग्राह्यता न होगी, यह कल्पना निराधार है । सम्पूर्ण लेख पुनः पढना चाहिए । ब्रह्मसूत्र चतुर्थ पाद ११ अधिकरण में अवकीर्णी (स्वेच्छापूर्वक ब्रह्मचर्य नष्ट करने वाले यति या नैष्ठिक ब्रह्मचारी) के लिए प्रायश्चित्त विधान कर वहीं विविध भगवन्नाम, ध्यान आदि का विधान करके "वहिस्थूभयथापि स्मृतेराचाराच्च" इस १२ अधिकरण, ४३वें सूत्र में कहा गया है कि उक्त प्रायश्चित्तों से पारलौकिक शुद्धि होने पर भी अवकीर्णी की लौकि शुद्धि नहीं होती, इसलिए समाज में वह ग्राह्य नहीं होता । यज्ञ, अध्ययन, विवाहादि में उसकी ग्राह्यता नहीं होगी, अतः व्यवहार में शिष्टों द्वारा उसका बहिष्कार ही उचित है, क्योंकि वैसी ही स्मृति है, वैसा ही शिष्टों का आचार भी है ।

"आरुढो नैष्ठिकं धर्म यस्तु प्रच्यवते पुनः ।

प्रायश्चित्तं न पश्यामि येन शुद्ध्येत्स आत्महा ।।

आरुढपतितं विप्रं मण्डलाच्च विनिःसृतम् ।

उद्वहेत् कृमिदष्टञ्च स्पृष्ट्वा चान्द्रायणं चरेत् ।।"

वैसे ही शिष्ट लोगों का आचार भी है-

याज्ञवल्क्यस्मृतौ प्रायश्चित्ताध्याये-

प्रायश्चित्तैरपैत्येनो यदज्ञानकृतं भवेत् ।

कामतो व्यवहार्यस्तु वचनादिह जायते ।। (श्लोक २२६)

मिताक्षरा- द्वे हि पापस्य शक्ती नरकोत्पादिका व्यवहारनिरोधिका चेति । तत्रेतरशक्त्यविनाशेऽपि व्यवहारनिरोधिकायाः शक्तेर्विनाशो नानुपपन्नस्तस्मात्

पापानपगमेऽपि व्यवहार्य्यत्वं नानुपपन्नम्......। पतनीयेपि कर्मणि कामकृते मरणान्तिक प्रायश्चित्तेषु कल्मषक्षयो भवत्येव । फलान्तराभावात् । ''नास्यास्मिंल्लोके प्रत्यापत्तिर्विद्यते कल्मषं तु निर्हन्यत'' इत्यापस्तम्बस्मरणात् ।

याज्ञवल्क्यस्मृति प्रायश्चित्ताध्याय में कहते हैं कि अज्ञानकृत पाप प्रायश्चित्तों से नष्ट होता है, पर इच्छापूर्वक पाप करने पर पूरा पाप नष्ट नहीं होता । फिर भी वचनबलात् व्यवहार्य्यता हो जाती है । यही मिताक्षराकार कहते हैं कि पाप की दो शक्ति होती है एक नरक देने वाली, दूसरी व्यवहार निरोधिका । उनमें एक शक्ति के विनाश हुए बिना भी व्यवहारनिरोधिका शक्ति का विनाश अनुपपन्न नहीं है । अतः पाप मिटे बिना भी व्यवहार्यता अनुपपन्न नहीं है ।

इच्छापूर्वक पतनीय कर्म करने पर भी मरणान्तिक प्रायश्चित्तों को करने पर कल्मषक्षय भी होता है, क्योंकि उनमें व्यवहार्यता आदि फलान्तर है ही नहीं ।

आपस्तम्भ के अनुसार पतनीय कर्मों को करने से इस लोक में व्यवहार्यता नहीं होती, किन्तु कल्मष नष्ट हो जाता है । इसी न्याय से वहीं भगवन्नामादि द्वारा नरकोत्पादिनी पापशक्ति के नष्ट होने पर भी व्यवहारनिरोधिका शक्ति बनी रहती है, इसी से व्यवहार्यता नहीं होती । जैसे समुद्रनौकादि द्वारा प्रत्यन्तगमन से शोधित का भी संग्रह-व्यवहार्यता नहीं होती । मिताक्षरा परम् मान्य ग्रन्थ है । यह न भूलना चाहिए ।

अभी तक भगवन्नाम से एवं गङ्गाजल से शुद्ध करके अंग्रेज मुसलमान की रोटी खाने की हिम्मत उपर्युक्त बातें कहने वाले भी नहीं कर सके हैं । मनु, नारद, यम आदि परम भागवतों के द्वादश वार्षिक आदि प्रायश्चित्तविधान भी उक्त मान्यता के आधार हैं । कलिवर्ज्यप्रकरणोक्त विलायतयात्री की अग्राह्यता की उक्ति भी इसका आधार है । सनातनी आस्तिकों के अनुसार **'श्वादोऽपि सद्यः सवनाय कल्पते'** का अर्थ यों है-

'भगवान् के नाम का उच्चारण, स्मरण या नमन करने से श्वाद चाण्डाल भी सद्यः-शीघ्र ही अर्थात् एक दो जन्म के अनन्तर ही सवनार्ह-द्विजाति हो जाता है।' सैकड़ों जन्मों की अपेक्षा दो-तीन जन्म में भी द्विजत्व प्राप्ति ही यहाँ पर सद्यः पद का अर्थ है ।

विदेशयात्रासमर्थक लिखते हैं कि अपनी इच्छा से किंवा अनिच्छा से यदि म्लेच्छ द्वारा स्त्री सगर्भा हो जाय तो वह ब्राह्मणी, क्षत्रिया, अथवा वैश्या या शूद्रा जो भी हो गर्भयुक्त होने पर जब वह रजस्वला होगी तब कृच्छ्रसान्तपन व्रत द्वारा निर्मल

सोने की तरह शुद्ध हो जायेगी पर कृच्छ्रसान्तपन की क्या आवश्यकता ? उनके अनुसार तो सर्षपमात्र गङ्गाजल ही बहुत है । वस्तुतः वैसी स्त्रियों की अपेक्षाकृत ही शुद्धि होती है, गृह में रखकर उनका भरण-पोषण करना चाहिए, शुद्ध सन्तान के योग्य उक्त स्त्रियाँ नहीं होती । अतएव निबन्धकारों ने धर्म और भोग में ऐसी स्त्रियों को अग्राह्य ही कहा है ।

"सोमः शौचं ददावासां गन्धर्वश्च शुभां गिरम् ।

पावकः सर्वमेध्यत्वं मेध्या वै योषितो ह्यतः ।।

(आचार. विवाहप्रकरणे. याज्ञवल्क्यस्मृतौ ७१)

न च तस्यास्तर्हिदोषो नास्तीत्याशङ्कनीयमित्याह-

व्याभिचाराद्दतौ शुद्धिगर्भे त्यागो विधियते ।

गर्भभर्तृबधादौ च तथा महति पातके ।। (आ. वि. ७२)

मिताक्षरा- **अप्रकाशित्मनोव्याभिचारात् पुरुषान्तरसंभोगसंकल्पाद्यदपुण्यं तस्य ऋतौ रजोदर्शनेन शुद्धिः, शूद्रकृते तु गर्भत्यागः ।** (मनु. ६/१५५)

ब्राह्मणक्षत्रियविंशा भार्याः शूद्रेण सङ्गताः ।

अप्रजाताः विशुद्ध्यन्ति प्रायश्चित्तेननेतराः ।।

इति स्मरणात् ।

तथा गर्भवधे, भर्तृवधे, महापातके च ब्रह्महत्यादौ । आदि ग्रहणाच्छिष्यादिगमनेन च त्यागः ।

"चतुस्नस्तु परित्याज्या शिष्यगा गुरुगा च या ।

पतिघ्नी च विशेषेण जुङ्गितोपगता च या ।।"

इति व्यासस्मरणात् जुङ्गितः प्रतिलोमजश्चर्मकारादिः । त्यागश्चोपभोगधर्मकार्य्योः, न तु गृहात्तस्या निष्कासनम् । निरुन्ध्यादेकवेश्मनि इति नियमात्।

याज्ञवल्क्य स्मृति में कहा है कि सोम ने स्त्रियों को शुचिता प्रदान की है, गन्धर्व ने शुभ वाणी प्रदान की है, पावक ने सर्वमेध्यता दी है, अतः स्त्रियाँ पवित्र हैं।

यही मिताक्षरा टीकाकार कहते हैं- इससे यह नहीं समझना चाहिए कि स्त्रियों को कोई दोष होता ही नहीं । अतएव अगले वचन में कहा गया है- 'व्याभिचार करने से स्त्री ऋतुधर्म से शुद्ध हो जाती है, परन्तु गर्भ रह जाए तो उसका त्याग ही विहित है । इसी तरह गर्भवध या भार्तृवध होने तथा ब्रह्महत्यादि महापातक होने पर स्त्री का त्याग करना चाहिए ।' मिताक्षरा के अनुसार यहाँ अप्रकाशित मानस व्याभिचार से होने वाले पाप की ही शुद्धि ऋतुधर्म से कही गयी है।

मनु ने शूद्रकृत गर्भ में त्याग कहा है । (१५५ मनु)

ब्राह्मण, क्षत्रिय एवं वैश्य की भार्य्या ने यदि शूद्र से संगत होकर प्रजनन न किया हो तो प्रायश्चित्त से शुद्ध होती है, परन्तु गर्भवध, भर्तृवध, ब्रह्महत्यादि महापातकों के होने पर तथा शिष्यसंगम से त्याज्य ही है । यही बात व्यासस्मृति में है- 'शिष्यगा, गुरुगा, पतिघ्नी तथा शूद्रसंगता स्त्री त्याज्य है ।' परन्तु यहाँ त्याग का इतना ही अर्थ है- 'उसका भोग और धर्म में उपयोग न किया जाय, किन्तु गृह से उसका निष्कासन तो कथमपि नहीं होना चाहिए । उसे एक गृह में भोजनाच्छादन देकर सुरक्षित रखना चाहिए । अन्यथा तो स्वतन्त्र होने से उसमें और दोष आ सकते हैं ।'

विदेशयात्रासमर्थक लिखते हैं कि -

"गृहीतो यो बलान्म्लैच्छेः पञ्च षट् सप्त वा समाः ।

दशादि विंशतिर्यावत् तस्य शुद्धिर्विधीयते ।।" (देवलस्मृति)

म्लेच्छों द्वारा बलात् गृहीत व्यक्ति उनके संसर्ग में पाँच-छः साल और दस से बीस वर्ष तक भी रहा हो तो उसका पुनः संस्कार होना चाहिए । पर यहाँ भी भगवन्नाम ही प्रायश्चित्त क्यों नहीं और बीस ही वर्ष क्यों ? जब म्लेच्छ भी भगवन्नाम से ब्राह्मण बन सकता है तो म्लेच्छसंसर्गी के लिए भी अन्य प्रायश्चित्त क्यों?

आगे विदेशयात्रासमर्थक स्वयं ही लिखते हैं कि- 'मुसलमान शत-प्रतिशत बलात् धर्मान्तरित किये हुए हैं । ईसाई भी प्रलोभन और दबाव में आकर ही शत-प्रतिशत ईसा के मेंडो में मिले हैं । इनको शीघ्र हिन्दुधर्म में दीक्षित कर लेना चाहिए । पर यह काम उन्हें ही आरम्भ करना चाहिए । आर्यसमाजियों में भी कुछ होम आदि कराना पड़ता है, परन्तु उनका तो आर्यसमाजियों से भी सरल नुस्खा है-

गङ्गाजल पिलाया या नाम सुनाया बस हो गयी शुद्धि । मनु की भी गवाही उन्हें मिल ही गयी ।

"बलाद्दत्तं बलाद्भुक्तं बलाद्यच्चापि लेखितम् ।

सर्वान्बलकृतानर्थान् अकृतान् मनुरब्रवीत् ।।" (मनु. ८/११६)

'बलपूर्वक दिया गया, खाया पिया गया, बलपूर्वक जो लिखाया गया है, ऐसे सब कार्य न किये गये ही समझने चाहिए । जन्मजात वर्णव्यवस्था के अनुसार नरमांसभक्षक होने पर भी रावण ब्राह्मण वर्ग का ही ब्रह्म राक्षस ही माना गया । वर्ण नहीं बदला । तब मुसलमान, ईसाई बनने पर भी वर्ण नहीं बदलता, किन्तु उनके कुसङ्गजन्य खान-पान, आदि दुराचारों को छुड़ाकर यथोचित प्रायश्चित्त की आवश्यकता है ।' पर यथोचित प्रायश्चित्त तो विदेशयात्रासमर्थकों के अनुसार गङ्गाजल है ही । उससे इन्कार करेंगे तो यह उनका अक्षम्य अपराध ही होगा । वस्तुतः शास्त्र का तात्पर्य जानकर ही कुछ लिखने का साहस करना चाहिए, अन्यथा नास्तिक तथा शैतान भी शास्त्र का दुरुपयोग करते ही हैं ।

वस्तुतः 'बलाद्दत्तं बलाद्भुक्तम्' श्लोक व्यवहार (मुकदमे) आदि के सम्बन्ध का है । अतएव कुल्लूकभट्ट लिखते हैं- बलाद्दत्तम्, अप्रतिग्राह्यादि, बलाद्भुक्तम्, भूम्यादि, बलाल्लेखितं चक्रवृद्धिपत्रादि । इत्यादि सर्वान् बलकृतान् व्यवहारान् निवर्त्तनियान् मनुराह । यदि किसी ने किसी को अप्रतिग्राह्य म्लेच्छ धन कन्यादि बलात् प्रदान कर दिया है तो वह अग्रहीत ही माना जायगा । यदि किसी ने किसी की भूमि का बलात् भोग किया है, तो भुक्ति प्रमाण के बल पर वह उसका अधिकारी नहीं माना जायगा । इसी तरह दस्तावेज आदि बलात् लिखा लेने पर भी वह अलिखित ही समझा जायगा, वह प्रमाण नहीं होगा । इस तरह प्रसङ्गान्तर के वचन को प्रसङ्गान्तर में लगाना भी एक महान् अपराध ही है । यहाँ 'भुक्तम' का अर्थ खाना-पीना तथा स्त्रीभोग आदि करना नहीं है। वैसा असङ्गत अर्थ करना अक्षम्य अपराध ही है ।

वर्त्तमान विलायत आदि विदेश को दूसरा द्वीप मानकर अपनी निरंकुश इच्छा का पोषण उचित नहीं

विदेशयात्रासमर्थक कहते हैं- 'अन्य द्वीपों में सदैव त्रैतायुग व सत्ययुग होते हैं ।

''त्रैतायुगसमः कालः सर्वदैव महामते'' ।।१४।।

''वर्णाश्रमाचारहीनं धर्माचरणवर्जितम्'' ।।७२।।

(विष्णुपुराण २/४/१४-१८३)

भारत के अतिरिक्त अन्य द्वीपों में सदैव त्रेतायुग के समान युग रहता है । वर्ण और आश्रमधर्म शिथिलप्राय तथा सदाचार की न्यूनता हो जाती है, परन्तु यदि वहाँ धर्म एवं सदाचार नहीं रहता तो त्रेतायुग के समान युग का ही क्या अर्थ है ? क्योंकि त्रेता में तो सदाचार आदि अत्यन्त दृढ़ होते हैं ।

वस्तुतः सम्प्रति उपलब्ध देशों एवं तत्रत्य मनुष्यों के लिये **'त्रेतायुगसमः कालः'** आदि संगत ही नहीं है, क्योंकि विष्णुपुराण के उक्त प्रसङ्ग को पूर्वापर से बिना विचार किये ही विदेशयात्रासमर्थकों ने उसको म्लेच्छजनों पर लागू किया है । जिन प्लक्षादि शाकद्वीपान्त पांच द्वीपों के लिए सदा त्रेतायुग के समान काल कहा गया है वहीं वहाँ के निवासियों की आयु पांच हजार वर्ष कही गयी है । ''पंचवर्ष सहस्राणि जना जीवन्त्यनामयाः'' । वहाँ के निवासी जन पांच सहस्र वर्ष तक निरोग जीवित रहते हैं । टीकाकार लिखते हैं- वहां त्रिपाद धर्म तथा सस्यादि समृद्धि का होना ही त्रेतायुग के समान काल का होता है । वर्णाश्रम विभाग भी वहाँ होता है । सोम, वायु रूप से भगवान् की आराधना होती है। पुष्कर द्वीप के सम्बन्ध में कहा गया है कि वहाँ दस हजार वर्ष तक लोग नीरोग जीवित रहते हैं । वे विशोक एवं राग-द्वेषादि रहित होते हैं । उनमें अधम-उत्तम एवं वध्य-घातकभाव नहीं होता । ईर्ष्या, असूया, भय, द्वेष तथा लोभादि दोष नहीं होते ।

दशवर्षसहस्राणि तत्र जीवन्ति मानवाः ।

निरामया विशोकाश्च रागद्वेषादिवर्जिताः ।।

अधमोत्तमौ न तेष्वास्तां न बध्यबधकौ द्विज ।

नेर्ष्यासूयाभयं द्वेषो दोषो लोभादिको न च ।।

क्या ऐसी स्थिति उपलब्ध देशों में कहीं भी है ? वहीं यह भी उल्लेख है कि वहाँ सभी तुल्यवेष देवरूपी मनुष्य सदा एक ही रूप में रहते हैं । उनमें वर्णाश्रमाचार तथा धर्माचरण नहीं होता । त्रयी, वार्ता, दण्डनीति तथा शुश्रूषा उनमें नहीं होती । वहाँ का काल सब ऋतुओं में सुखदायी होता है तथा जरा-रोगादि भी वहाँ नहीं होते।

"तुल्यवेषास्तु मनुजा देवास्तत्रैकरूपिणः ।

वर्णाश्रमाचारहीनं धर्माचरणवर्जितम् ।।

त्रयीवार्तादण्डनीतिशुश्रूषारहितञ्च यत् ।।"

यह भी स्थिति क्या उपलब्ध देशों में मिलती है ।

"चत्वारि भारते वर्षे युगान्यत्र महामुने ।

कृतं त्रैता द्वापरञ्च कलिश्चान्यत्र न क्वचित् ।।"

"पुरुषैर्यज्ञपुरुषो जम्बूद्वीपे सदेज्यते ।

यज्ञं यज्ञमयो विष्णुरन्यद्वीपेषु चान्यथा ।।" (विष्णुपुराण २/३/१६/२१)

इसका अर्थ निकालना कि 'भारतेत्तर देशों में चारों युगों का अस्तित्व नहीं होता, अतः उन्हें कलिवर्ज्य प्रकरण का क्षेत्र मानना उचित नहीं । एतावता, वर्णान्तरविवाह, समुद्रयात्रा आदि जो कृत्य सत्ययुग में निन्द्य नहीं वे द्वीपान्तरों में कलियुगाभावात् सम्प्रत्यपि प्रशस्त नहीं किन्तु एक सीमा तक क्षन्तव्य माने जा सकते हैं' उचित नहीं, क्योंकि उक्त वचनों का विष्णुचित्तीय आदि टीकाकारों के अनुसार इतना ही अर्थ है कि धर्मपादव्यवस्था के अनुसार उन देशों में युग व्यवस्था नहीं है । जब उन देशों में वेद एवं वर्णाश्रमानुसारी यज्ञादि नहीं तो कृत त्रेतादि की भी कल्पना व्यर्थ ही है ।

भारतवर्ष में ही कृत, त्रेता, द्वापर, कलि ये चारों युग होते हैं, क्योंकि धर्मपाद-व्यवस्था से युगव्यवस्था होती है । जहाँ धर्म के चारों पाद होते हैं वहाँ कृत, जहाँ तीन वहाँ त्रेता, जहाँ दो वहाँ द्वापर, जहाँ एक ही पाद होता है वहाँ कलि होता है ।

यहाँ मुनि लोग तप करते हैं, यज्वा लोग यज्ञ करते हैं तथा परलोकार्थ दान करते हैं । यज्ञमय पुरुष विष्णु की यज्ञो द्वारा यहीं अर्चा होती है । अन्य देशों में सोम, वायु, सूर्य आदि रूप में परमेश्वर की पूजा होती है-

''तपस्तप्यन्ति मुनये जुह्वते चात्र यज्वनः ।

दानानि चात्र दीयन्ते परलोकार्थमादरात् ।।

पुरुषैर्यज्ञपुरुषो जम्बूद्वीपे सदेज्यते ।

यज्ञैर्यज्ञमयो विष्णुरन्यद्वीपेषु चान्यथा ।।

तपः शौचं दया सत्यमिति पादाः प्रकीर्त्तिताः ।

अधर्मांशैस्त्रयोभग्नाः स्मयसङ्गमदैस्तथा ।

तं जिघृक्षत्यधर्मोऽयमधर्मैणेधितः कलिः ।।''

श्रीभागवत के अनुसार तप, शौच, दया, सत्य ये चार धर्म के पाद माने जाते हैं । स्मय (घमण्ड) से तप, सङ्ग से शौच, मद से दयारूप धर्मपाद नष्ट होते हैं । अनृत से सत्यरूप पाद भी भग्न हो जाता है ।

''त्रयोधर्मस्कन्धा यज्ञोऽध्ययनं दानमीति प्रथमः तप एव, द्वितीयः ब्रह्मचर्य्याचार्यकुलवासी तृतीयः अत्यन्तमात्मानमाचार्यकुलेऽवसादयन् सर्व ऐवैते पुण्यलोका ब्रह्मसंस्थोऽमृतत्वमेति (छा. १/२३/१) के अनुसार यज्ञ, अध्ययन, दान प्रथम पाद, तप द्वितीय पाद, नैष्ठिक ब्रह्मचर्य तृतीय पाद एवं निवृत्तिपूर्वक निष्ठा चतुर्थ पाद है ।

कुछ अन्य समाधान एवं उनका निराकरण

निषेध तो प्राप्ति होने पर ही सम्भव है । यदि साधन सामग्री के अभाव से ही उक्त अश्वालम्भादि कार्यों का होना असम्भव था तो पृथक् निषेध की आवश्यकता ही क्यों ? विधिहीन यज्ञ आदि का तो निषेध स्पष्ट ही है- **''विधिहीनस्य यज्ञस्य सद्यः कर्त्ता विनस्यति'' ''विधिहीनमसृष्टान्नम्'' ।**

इसके अतिरिक्त सोमवल्ली न मिलने पर पूतिका आदि औषधान्तरों का विधान भी श्रौतसूत्रों में है ही । साथ ही पश्वालम्भन वाले ज्योतिष्टोम, चयन आदि यज्ञों का

भी कलि में निषेध नहीं है । इसका अनुष्ठान आज भी किया ही जाता है। यह अधर्म है या नहीं ? यह प्रश्न तो इसलिए उठता होगा कि 'अशुद्ध इति चेन्न शब्दात्' इस ब्रह्मसूत्र तथा उसकी शाङ्करभाष्य, श्रीभाष्य आदि की हिंसा की परिभाषा सम्भवतः नहीं पढी होगी, अथवा उनका भी अर्थ बदलने का साहस कर रखा होगा ।

स्वरूपरक्षापूर्वक उन्नति ही वास्तविक उन्नति

कुछ लोग कहते हैं कि आज संसार के विभिन्न जातियाँ सारे संसार में फैलकर सारे संसार में आधिपत्य करना चाहती है । यह सब तभी सम्भव है जब सब जगह जाने और सबसे खान-पान विवाह आदि की छूट हो । भारतीय हिन्दु जो कभी संसार भर के शासक थे संकीर्णता के कारण ही आज भारत में भी थोड़ी ही संख्या में रह गये हैं । भारत से अन्य देशों को म्लेच्छ देश समझकर वहाँ जाना निषिद्ध मानने से संकीर्णता के कारण ह्रास हो ही रहा है, अतः उक्त बन्धनों को तोड़कर ही भारतीय हिन्दु भी सर्वत्र फैलकर सबको आत्मसात् करके विश्वविजयी हो सकते हैं, अन्यथा नहीं ।

उक्त कथन अविचारित रमणीय ही है । कारण, कोई भी उन्नतिस्वरूप रक्षा के साथ ही उन्नति कही जा सकती है । यदि सिंह उन्नत या स्वतंत्र होकर गर्दभ हो जाये तो वह उन्नति नहीं किन्तु पतन ही है । इसी तरह यदि भारतीय हिन्दु अपने धर्म-कर्म, सभ्यता, संस्कृति तथा उनके आधारभूत शास्त्रों का आदर एवं रक्षण करते हुए उन्नत हों, स्वतंत्र हों, विश्वविजयी हों तभी उन्नति उन्नति है, अन्यथा हिन्दुधर्म, कर्म और शास्त्रों को नष्ट करके या ठुकराकर प्राप्त की जाने वाली उन्नति पतन ही है । यदि हिन्दु का कोई अपना शास्त्र, धर्म या संस्कृति अवशिष्ट न रहे तो निराधार निःसार, निष्प्रमाण हिन्दुत्व सर्वथा अकिंचित्कर ही होगा ।

प्राचीन मान्धाता, दिलीप आदि हिन्दु-सम्राट् अपने स्वरूप की रक्षा के साथ ही विश्वशासक थे । **"नान्तमियात्"** इत्यादि बृहदारण्यक श्रुति तथा **"एतान् द्विजातयो देशान् संश्रयेरन् प्रयत्नतः"** इत्यादि मन्वादि वचन प्रत्यन्तगमन तथा प्रत्यन्तवासियों से भोजन-पान विवाहादि संसर्ग को ही निषिद्ध कहते हैं, प्रत्यन्त देशों के शासन एवं धर्ममार्गदर्शन आदि का निषेध नहीं करते हैं ।

परस्पर की जातिगत विशेष व्यवस्थाओं में अहस्तक्षेपपूर्वक ही सह-अस्तित्व की भावना से विश्वबन्धुत्व की प्रतिष्ठा सम्भव है

"वसुधैव कुटुम्बकम्" "अमृतस्य पुत्राः" आदि के अनुसार विश्वबन्धुत्वमूलक विश्वहिताचरण धर्मनिष्ठ हिन्दु में ही सम्भव है । भारतीय अनेक जातियों में भी परस्पर खान, पान, विवाह का सम्बन्ध न होने पर भी सद्भावना पूर्ण मैत्री रहती है । अभी कुछ दिनों पूर्व तक भारत के हिन्दु, मुसलमानों में खान-पान, विवाह का सम्बन्ध न होने पर भी पूर्ण सद्भावना तथा मैत्री रहती थी । एक-दूसरे की रक्षा के लिए प्राणोत्सर्ग तक करने को वे प्रस्तुत रहते थे ।

यदि सभी जातियाँ विश्व में फैलकर परस्पर एक-दूसरे को आत्मसात् करने का प्रयत्न करेंगी तो किसी की भी उन्नति न होकर सबका नाश ही होगा । इस दृष्टि से भी सीमित गमनागमन व्यावहारिक दृष्टि से भी लाभदायक तथा सामञ्जस्य का हेतु ही है । जैसे राष्ट्रों में सह-अस्तित्व की भावना के आधार पर परस्पर एक-दूसरे की प्रभुसत्ता पर हस्तक्षेप न करने का नियम है वैसे ही विभिन्न धर्मों एवं जातियों में भी एक-दूसरे के क्षेत्र में अहस्तक्षेप की नीति सामञ्जस्य का हेतु बन सकती है ।

शास्त्रीय मर्यादा और व्यापक हिन्दुत्व

प्रत्यन्तगमननिषेध, प्रायश्चित्त, धर्मान्तरण तथा धर्मान्तरित की शुद्धि की सीमाओं के विचार का यह अभिप्राय कदापि नहीं कि विदेशों के प्रवासी हिन्दु हिन्दु नहीं है या वे अपकृष्ट हैं अथवा प्रायश्चित्त द्वारा शोधित पतित धर्मान्तरित हिन्दु या शोधित अहिन्दु का श्रेणीभेद होने पर भी वे अहिन्दु हैं या उनके लौकिक सम्मान या पारलौकिक कल्याण में कोई बाधा उत्पन्न हो सकती है, किन्तु हिन्दु-धर्म एवं हिन्दुत्व के आधारभूत वेदादि शास्त्रों के अनुसार वस्तुस्थिति का विश्लेषण और विचार आवश्यक है । उसकी उपेक्षा मूल पर कुठाराघात है ।

लोक में जो संस्था दृढ़ संविधान स्वीकार नहीं करती अथवा सदस्यों के संतुष्टीकरण या सदस्यसंख्या वृद्धि के लिये संविधान में रद्दोबदल करती रहती है, उसका जीवन अधिक काल तक नहीं चल सकता, अतः वेदादि शास्त्रों का प्रामाण्य

स्वीकार न करना या शास्त्रीय नियमों में स्वेच्छया रद्दोबदल करना हिन्दु-समाज के उज्ज्वल भविष्य का परिचायक नहीं है ।

प्रकृत में अनादि अपौरुषेय वेद एवं वेदानुसारी सभी आर्ष धर्मग्रंथ हिन्दु-धर्म तथा हिन्दुत्व के आधार हैं । सृष्टि के आरम्भ में वेदादिशास्त्रानुगामी होनें के कारण सभी ही हिन्दु ही थे । उसी से अन्य धर्मों एवं जातियों का उत्तरोत्तर आविर्भाव हुआ। आज भी जो चाहे वेदादि शास्त्रों का यथाधिकार अनुसरण करके हिन्दुत्व को अपना सकता है । सनातनी, समाजी, सिक्ख, जैन, बौद्ध सभी पूर्णतः या अंशतः उन्हीं शास्त्रों का अनुसरण करने के कारण हिन्दु हैं । वेदादि शास्त्रों के अध्ययन, अध्यापन एवं तदर्थानुष्ठान में निरत जन्मना ब्राह्मणादि वर्णाश्रमी भी हिन्दु हैं, अनुलोम, प्रतिलोम, सङ्कर भी हिन्दु है । स्वधर्मनिष्ठ, स्वधर्मविमुख भारतीय तथा अमरीका, अफ्रीका, इङ्गलैण्ड आदि देशों के प्रवासी, नगरवासी तथा जङ्गलों के आदिवासी सब स्वजाति या विदेशियों की कन्या लेने वाले तथा उनको कन्या देने वाले कि बहुना आस्तिक नास्तिक जो जितने अंश में वेदादि शास्त्रों तथा तदुक्त धर्मों, गङ्गादि तीर्थों का आदर करते हैं और धर्मान्तरित नहीं है वे सभी हिन्दु हैं । धर्मान्तरित भी शास्त्रानुसार घोषित होकर हिन्दु हो सकते हैं । भगवत्तत्वज्ञान, भगवच्चरित्र, भगवन्नाम, गङ्गा तथा गौवंश का लोकोत्तर महात्म्य सारे विश्व को पावन कर सकते हैं । श्रीमद्भागवतादि प्रोक्त त्रिंशल्लक्षणवान् (भगवद्भक्ति, भगवन्नाम, सत्य, दया, अहिंसादि) धर्म को अपनाकर कोई भी परम् पावन हिन्दु होकर भगवत्पद प्राप्ति का अधिकारी हो सकता है । हिन्दु-समाज में सबका ही सम्मान तथा आदर है और होना चाहिए, परन्तु यह न भूलना चाहिए कि हिन्दु-धर्म एवं हिन्दुत्व का आधार वेदादि शास्त्र हैं । जो जितने अंश में उसका अनुसरण करता है, उतने ही अंशों में उसका महत्व अधिक है । इन शास्त्रों की मर्यादाओं को ठुकराकर मूल हिन्दुत्व तथा हिन्दु-धर्म को मिटा देना हिन्दु-प्रेम नहीं है । उदारता के नाम पर सर्वसाङ्कर्य फैलाना उचित नहीं है । उत्कर्ष-अपकर्ष का तारातम्य तो जन्मना ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्रों में ही नहीं, किन्तु एक-एक वर्णों में भी है । धान की जाति तथा आम की जाति के समान ब्राह्मण में भी बहुत भेद तथा तारतम्य है । उनमें आपस में भी रोटी-बेटी का सम्बन्ध नहीं होता है ।

धर्मशास्त्रों के अनुसार ब्राह्मण, क्षत्रिय का भी समान धर्म नहीं है । राजसूय में जन्मना क्षत्रिय का ही अधिकार है । ब्राह्मण अखण्ड भूमण्डल का सम्राट् होने पर

भी राजसूय का अधिकारी नहीं होता । रथकारीय इष्टी में माहिष्य के कारणी में उत्पन्न रथकार जातीय व्यक्ति ही अधिकारी होता है, अन्य कोई नहीं ।

असङ्कर ब्राह्मणादि और अनुलोम मूर्धाभिषिक्त आदि में भी उत्कर्ष-अपकर्ष का तारतम्य है । अनुलोम-प्रतिलोम सङ्करों के कर्मों एवं जीविकाओं में भी महान् भेद है । किसी को साक्षात् वेदाध्ययन एवं तदुक्त अग्निहोत्रादि कर्मों के अनुष्ठान का अधिकार है, किसी को इतिहास पुराणादि प्रोक्त धर्मों में अधिकार है । किसी को इतिहास पुराणादि पठन का अधिकार है, किसी को श्रवण मात्र का अधिकार है । कईं पापों की प्रायश्चित्तों से शुद्धि हो जाती है, कईं पापों में प्रायश्चित्त करने पर पूर्व जाति में मिलना सम्भव होता है, और कईं पापों का प्रायश्चित्त करने पर भी पूर्व जाति में ग्राह्यता नहीं होती है, किन्तु प्रायश्चित्त द्वारा शुद्ध होने वालों की पूर्व जाति में एक पृथक् श्रेणी निर्मित हो जाती है । उनकी रोटी-बेटी आदि सभी उसी में होने का नियम रहता है । 'सब समान है, सब भाई-भाई है, सब में समान रूप से रोटी-बेटी होनी चाहिए' - ये विचार व्यवहार में प्रामाणिक नहीं है ।

यह हिन्दुजाति में अवान्तर अपरिगणित तारतम्य एवं भेद होने पर भी सब हिन्दु हैं भगवतत्वज्ञान, भगवन्नाम, भगवच्चरित्रश्रवण, भगवद्भक्ति, गो-सेवा, अहिंसा, अस्तेय, क्षमा, दया, गङ्गास्नान, मंदिर शिखरदर्शन जैसे परमोत्कृष्ट महान् हिन्दु-धर्म में उन सब का ही अधिकार है और वे सभी भगवत्पदप्राप्ति के पूर्णाधिकारी ही हैं तथा हिन्दु-समाज के परमादरणीय घटक हैं और उन्हें सामाजिक-राजनीतिक दृष्टि से राष्ट्रपति या प्रधानमंत्री, परराष्ट्रमन्त्री तथा विदेशों के राजदूत, सेनापति आदि होने की पूरी सुविधा है ।

हिन्दुधर्म और समानता

साथ ही वर्णाश्रम-व्यवस्था तथा अनुलोम-प्रतिलोम जातियों तथा उनके अधिकारों, शास्त्रनिषिद्धाचरणों उनके प्रायश्चित्तों, शुद्धियों तथा उनके परिणामों का विचार तथा भारत एवं भारतेत्तर देशों एवं वैदिक-अवैदिक आचरणों के गुण दोषों पर विचार सङ्कीर्णता नहीं है और न ही उससे **"वसुधैव कुटुम्बकम्"** (सारी वसुधा ही अपना कुटुम्ब है) **"अमृतस्य पुत्राः"** (सभी प्राणी परमेश्वर की सन्तान है) इन महान् आदर्शों का विघात होता है, क्योंकि यह दृष्टि पारमार्थिक आत्मा की दृष्टि है । परमार्थतः

विद्याविनयसम्पन्न ब्राह्मण, गो, हस्ती, श्वान, श्वपाक आदि का आत्मा समान होने पर भी व्यवहार में उनका भेद रहता ही है । इसी दृष्टि से यद्यपि सभी अमृतपुत्र हैं, तथापि व्यवहार में सबके अवान्तर प्रभेद मान्य हीं है । संसार के विभिन्न राष्ट्रों तथा जातियों में विभिन्न प्रकार के धर्म, संस्कृति तथा उनके पृथक् आधार हैं ही ।

यदि भारत एवं उसके हिन्दुओं को अपने धर्म, संस्कृति एवं उसके आधार पर अन्वेषण करना पड़े तो वेदादि शास्त्रों को ही उनके आधार रूप में मानना अनिवार्य होगा । शास्त्रीय, धार्मिक, सांस्कृतिक वस्तुस्थितियों से आँख मींचना सत्य से ही आँख मींचना होगा । साधर्म्य, वैधर्म्य के अनुसार समानता, विषमता सार्वत्रिक वस्तुस्थिति है। घट, कलश, कटक, मुकुट, कुण्डल आदि का वैषम्य और भेद होने पर भी सुवर्ण सर्वत्र अभिन्न एवं समान है । घटाकाश, मठाकाश के स्वरूप एवं कार्यों का भेद होने पर भी आकाश सर्वत्र एक तथा समान ही है । दया, क्षमा, उदारता, सहिष्णुता के लिये साधर्म्यमूलक समानता, स्वतंत्रता तथा भ्रातृता की भावना का महान् उपयोग है । कोई भी ब्राह्मण वनस्थ, ब्रह्मचारी आदि रूप से विभिन्न होते हुए भी ब्राह्मणत्व की दृ ष्टि से अन्य ब्राह्मणों के समान ही ब्राह्मण होता है । वही ब्राह्मण रहते हुए भी अन्य दृष्टि से वैदिक हिन्दु है । किसी दृष्टि से वह हिन्दु है, अन्य दृष्टि से वह मानवमात्र है । इस तरह एक (कट्टर) सुदृढ़ वैदिक सनातनी ब्राह्मण भी मानवता के नाते विश्वहित में संलग्न हो सकता है । कारण ब्रह्म की दृष्टि से सभी अमृत ब्रह्म रूप हैं, उसकी संतान हैं । इस दृष्टि से ही समानता एवं भ्रातृता की भावना बन सकती है, फिर भी दोनों भावनाओं के क्षेत्र भिन्न होते हैं । व्यवहार में परमार्थ का साङ्कर्य उचित नहीं है । क्षमा, दया, उदारता का व्यवहार करने के लिये राग, द्वेष एवं क्रोध आदि के प्रशमन के लिये समानता, स्वतंत्रता, भ्रातृता की भावना का प्रयोग उचित है और दैनन्दिन व्यवहार, खान-पान, आचार, विवाह आदि के लिये शास्त्रीय वर्णाश्रम धर्म की भावना का उपयोग उचित है ।